में हैं वही भाव मानसके *'बिनु प्रयास'* का है।

नोट—४ दुन्दुभीकी कथा ६ (१—३) में देखिये।

'दुन्दुभि-अस्थि ताल'

१—दुन्दुभीका शरीर जो मतङ्गजीके आश्रममें गिरा था वह पर्वत-समान बड़ा था, उसे दिखाया। २—तालवृक्षके सम्बन्धमें कई प्रकारकी कथाएँ कही जाती हैं—(क) करुणासिंधुजी लिखते हैं कि 'दुन्दुभीके अस्थिपर सात ताल वृक्ष जमे जो मण्डलाकार थे। किसी मुनिका शाप है कि जो सप्ततालको एकही बाणसे एक ही बार नाश कर दे वही वालिको मार सकेगा। ये सप्ततालवृक्ष किसी मुनिके शापसे देवलोकसे च्युत हुए थे, इनका उद्धार रामबाणद्वारा हुआ और वे दिव्यरूप हो परमपदको प्राप्त हुए।' (ख) हनुमन्नाटकमें लिखा है कि इन सप्ततालोंकी जड़ें पातालमें शेषजीकी पीठमें स्थित थीं। और, इनके विषयमें यह कथा है कि यदि कोई इनका नाश करना चाहे और एक बाणसे नाश न कर सका तो ये सप्तताल बाण चलानेवालेको ही मार डालते हैं। यथा—'**सौमित्रिस्तानकृतसरलाञ्छेषपृष्ठस्थमूलान्भारेणाङ्घ्रेरथ रघुपतिः संदधे दिव्यमस्त्रम्॥ देव ज्ञात्वा बाणः प्रहन्तव्यः। यतः। एकदैव शरेणैकेनैव भिन्नकलेवराः। म्रियन्ते सप्ततालास्तं घ्नन्ति हन्तारमन्यथा॥**' (हनु० अङ्क ५। ४७-४८) अर्थात् लक्ष्मणजीने शेषजीकी पीठमें स्थित मूलवाले उन ताल वृक्षोंको चरणके अग्रभागसे सीधा कर दिया, फिर रामचन्द्रजीने दिव्य अस्त्र धारण किया। लक्ष्मणजी बोले—स्वामिन्! समझकर बाण मारना उचित है, क्योंकि एक साथ ही एक बाणसे इन सातों वृक्षोंका नाश कर देना योग्य है, नहीं तो ये फिर मारनेवालेहीको मार डालते हैं। श्रीरामचन्द्रजीने कहा कि तुम भय न करो।

वाल्मीकिजी भी लिखते हैं कि 'बलवान् रामचन्द्रजीके द्वारा फेंका हुआ वह स्वर्णमण्डित बाण तालोंको भेदकर पर्वत और पृथ्वीको फोड़ता हुआ पातालमें चला गया और एक ही मुहूर्तमें सप्ततालोंको भेदकर पुनः उनके तरकशमें लौट आया।' इससे भी शेषजीकी पीठमें उनकी जड़ोंका स्थित होना सिद्ध है। यथा—'**स विसृष्टो बलवता बाणः स्वर्णपरिष्कृतः। भित्त्वा सालान्गिरिप्रस्थं सप्तभूमिं विवेश ह॥ सायकस्तु मुहूर्तेन सालान्भित्त्वा महाजवः। निष्पत्य च पुनस्तूर्णं तमेव प्रविवेश ह॥**' (सर्ग १२। ३-४) (ग) कहीं यह कथा है कि वालि एक बार एक फल लाकर सरके तीर रखकर स्नान करने लगा; इतनेमें तक्षक सर्पका पुत्र आकर गुड़री लगाकर उसपर बैठ गया। वालिने आकर इसे फलपर बैठे देख शाप दे दिया कि तूने हमारा भक्ष्य मलिन कर दिया, अतः तेरे शरीरसे यह फूटकर वृक्षरूप हो जायगा। गुड़री लगाये हुए सर्पके ऊपर इन वृक्षोंकी स्थिति होनेसे एक तालसे अधिक एक बारमें कोई बेध न सकता था और ये ऐसे दीखते थे मानो कोई सर्प सो रहा हो।

देखि अमित बल बाढ़ी प्रीती। बालि बधब* इन्ह भइ परतीती॥ १३॥

अर्थ—श्रीरामजीका अतुलनीय बल देखकर सुग्रीवकी प्रीति बढ़ी और इनपर विश्वास हुआ कि ये वालिका वध करेंगे॥ १३॥

टिप्पणी—१ (क) *'देखि अमित बल'* भाव यह कि सुग्रीवने लक्ष्मणजीके मुखसे धनुर्भंग, विराध, खर-दूषण और कबन्धका वध इत्यादि श्रीरामजीका पराक्रम सुना, यथा—*'लछिमन रामचरित सब भाषा।'* और रामचन्द्रजीने भी अपने मुखसे अपना बल कहा, यथा—*'सुनु सुग्रीव मारिहौं बालिहि एकहि बान। ब्रह्म रुद्र सरनागत गए न उबरिहि प्रान॥'* इतनेपर भी सुग्रीवको प्रतीति न हुई। जब उन्होंने आँखोंसे देख लिया कि इन्होंने तो अस्थि और ताल *'बिनु प्रयास ढहाए'* तब प्रतीति हुई। अतः *'देखि'* पद दिया। (ख) *'अमित बल'* भाव कि जब श्रीरामजीने अपना बल कहा कि *'सखा सोच त्यागहु बल मोरे'* तब सुग्रीवने वालिको महाबली कहा—*'बालि महाबल अति रनधीरा।'* अब महाबली वालिसे अधिक बल रामजीमें देखा अतएव महाबलसे अधिक होनेसे अमित बल कहा। इनके बलकी थाह नहीं। (ग) *'प्रीति बाढ़ी'* अर्थात्

* 'बधब की'—(का०)

प्रीति तो पहलेसे ही थी, यथा—*'कीन्ह प्रीति कछु बीच न राखा'* अब वह प्रीति अधिक हो गयी।

नोट—१ वालिको ये अवश्य मारेंगे, यह विश्वास हुआ। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि जब मुहूर्तमात्रमें श्रीरामजीका वह बाण सप्ततालोंको बेधकर पुनः तरकशमें लौट आया तब सुग्रीव बहुत विस्मित हुए, हाथ जोड़कर प्रणाम किया और बोले कि समस्त देवताओंसहित इन्द्रको भी आप मार सकते हैं फिर वालिकी बात ही क्या? जो सप्तमहातालोंको भूमि और पर्वत-सहित एक बाणसे बेध सकता है उसके सामने युद्धमें कौन ठहर सकता है। आपको मित्र पाकर अब मेरा शोक दूर हो गया। **'सेन्द्रानपि सुरान्सर्वांस्त्वं बाणैः पुरुषर्षभ। समर्थः समरे हन्तुं किं पुनर्वालिनं प्रभो॥ येन सप्त महाताला गिरिर्भूमिश्च दारिता। बाणेनैकेन काकुत्स्थ स्थाता ते को रणाग्रतः॥ अद्य मे विगतः शोकः प्रीतिरद्य परा मम।'** (स० १२।८—१०) ये सब भाव *'बालि बधब इन्ह भइ परतीती'* में भरे हुए हैं।

बार बार नावइ पद सीसा। प्रभुहि जानि मन हरष कपीसा॥१४॥
उपजा ज्ञान बचन तब बोला। नाथ कृपा मन भएउ* अलोला॥१५॥

अर्थ—(वह) बार-बार चरणोंमें माथा नवाता है। प्रभुको पहचानकर कपीस (सुग्रीव) मनमें हर्षित हुआ॥१४॥ जब ज्ञान उत्पन्न हुआ तब (यह) वचन बोला—हे नाथ! आपकी कृपासे मेरा मन अचल हुआ॥१५॥

टिप्पणी—१ (क) सुग्रीवजी मन-वचन-कर्मसे श्रीरामजीकी शरण हुए। यथा—*'प्रभुहि जानि मन हरष कपीसा', 'उपजा ज्ञान बचन तब बोला', 'बार बार नावइ पद सीसा।'* (यह कर्म है।) (ख) प्रभुको जाननेसे प्रतीति होती है, प्रतीतिसे प्रीति और प्रीतिसे भक्ति होती है, यथा—*'जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥ प्रीति बिना नहिं भगति दिढ़ाई।'* (७।८९) *'प्रभुहि जानि मन हरष कपीसा'* यह जानना है। जाननेसे प्रतीति हुई, यथा—*'बालि बधब इन्ह भइ परतीती।'* प्रतीतिसे प्रीति हुई, यथा—*'देखि अमित बल बाढ़ी प्रीती।'* प्रीतिसे भक्ति हुई, यथा—*'सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहौं सेवकाई॥'* सेवा करना भक्ति है।

नोट—१ बारम्बार सिर नवानेका भाव। (क) ज्ञान हुआ कि ये ईश्वर हैं, हमारे प्रभु हैं और ईश्वरको अनेक प्रणाम करना उचित ही है। इसी तरह अर्जुनका, ऐश्वर्य देखनेपर, भगवान् कृष्णको बारम्बार प्रणाम पाया जाता है, यथा—**'नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते।'** (गीता ११। ३९) वा, (ख) अत्यन्त हर्षके कारण। (पं०)। वा, (ग) पहिले प्रभुको वालिका भेजा हुआ जानकर उनमें शत्रु-भावकी आशंका हुई थी, फिर उनकी परीक्षा दुन्दुभि-अस्थि और तालद्वारा ली; अब प्रभुको सर्वज्ञ जानकर अपनी अवज्ञा क्षमा करानेके लिये बारम्बार प्रणाम करते हैं। (पं०) (घ) बाल, अरण्य और सुन्दरमें लिखा जा चुका है कि प्रेममें यह दशा हो जाती है। यथा—*'देखि राम छबि अति अनुरागीं। प्रेम बिबस पुनि पुनि पग लागीं॥'* (१। ३३६) *'प्रेम मगन मुख बचन न आवा। पुनि पुनि पद सरोज सिरु नावा॥'* (३। ३४) (श्रीशबरीजी) *'पद अंबुज गहि बारंबारा। हृदय समात न प्रेम अपारा॥'* इत्यादि। कृतज्ञता सूचित करनेके लिये भी ऐसा किया जाता है—*'मो पहिं होइ न प्रति उपकारा। बंदउँ तव पद बारहिं बारा॥'* (७।१०५)

नोट—२ *'मन हरष'* के साथ 'कपीश' शब्द बड़ा उत्तम पड़ा है। 'कं (=आनन्दं) *पिबन्ति इति कपयः'* एवं 'क (=इन्द्रियाणि)+**ईशः इति कपीशः**।' जो आनन्दका पान करनेवाला है उसके मनमें हर्ष होना ही चाहिये। प० प० प्र० स्वामी यह व्युत्पत्ति देकर लिखते हैं कि भाव यह है कि 'अब मर्कटोंका ईश होनेमें क्या लाभ है, मैं तो इसी समय कपीश हो गया हूँ।

---

* भयो—(भा० दा०), भएउ—(का०)

टिप्पणी—२ (क) प्रभुको जाननेपर ज्ञान उपजा। इस कथनसे सूचित हुआ कि प्रभुका जानना ही ज्ञान है। (ख) *'उपजा ज्ञान बचन तब बोला'* इति। भाव कि जब मन प्रेममें मग्न हो जाता है तब बोल नहीं आता; ज्ञानमें धीरज होता है तब बोल आता है, यथा—*'प्रेम मगन मनु जानि नृपु करि बिबेकु धरि धीर। बोले मुनिपद नाइ सिरु गदगद गिरा गँभीर॥'* (१। २१५) (ग) भगवत्-कृपासे और ज्ञानसे मन स्थिर होता है। सुग्रीव अपने मनके स्थिर होनेमें श्रीरामजीकी कृपाको मुख्य समझते हैं, इसीसे कहते हैं, कि *'नाथ कृपा मन भयउ अलोला।'*

रा० प्र० श०—प्रभुकी कृपासे मनसे चञ्चलता जाती है; चरित्रसे ही अज्ञान नहीं रहता; जैसा श्रीपार्वतीजीने कहा था, यथा—*'तौ प्रभु हरहु मोर अज्ञाना। कहि रघुनाथकथा बिधि नाना॥'* सुग्रीवने श्रीलक्ष्मणजीसे चरित्र सुना और श्रीरामजीने ताल गिराकर स्वयं (अपना चरित) दिखाया; इससे अज्ञान दूर हुआ और ज्ञान उपजा।

प० प० प्र०—ज्ञान उत्पन्न होनेका कारण *'नाथ कृपा'* है। ज्ञान=आत्मानुभव। आत्मानुभव ही सुख है, यथा—*'आतम अनुभव सुख सुप्रकासा।'* उससे मन स्थिर होता है, यथा—*'निज सुख बिनु मन होइ कि थीरा।'* (७। ९०। ७) इसीसे कहा कि *'मन भयउ अलोला।'* इससे यह भी जनाया कि सुग्रीव निष्काम निःस्पृही हो गये, उसको संतोष प्राप्त हो गया। क्योंकि बिना संतोष कामका नाश नहीं होता और कामके रहते सुख नहीं होता। यथा—*'बिनु संतोष न काम नसाहीं। काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं॥'* आत्मानुभव सुख बिना भक्तिके रह नहीं सकता, इसीसे आगे प्रार्थना करते हैं कि *'अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि भजन करौं दिन राती॥'*

पं० रा० व० श०—पहलेवाले वचन अज्ञानके थे कि वालि शत्रु है, आप बली हैं, वह महाबली है, इत्यादि। ज्ञान होनेसे समता आ गयी, शत्रुभाव जाता रहा। यथा—*'ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं॥'* (३। १५) *'निज प्रभु मय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥'* (७। ११२) यह भाव उदय हो गया, अतः वैर भूल गया। निश्चल मनके लक्षण आगे कहते हैं; यही ज्ञान उत्पन्न होनेके लक्षण हैं।

वि० त्रि०—*'उपजा ज्ञान''अलोला'* इति। जब सुग्रीवने देखा कि दुन्दुभीकी अस्थिको सरकारने बायें पदके अंगुष्ठसे दस योजनपर फेंक दिया, और एक बाणसे मण्डलाकार सात तालोंको बेधते हुए, अगाध भूतलको बेध दिया तो इस अचिन्त्य पराक्रमको देखकर चकित हो गया; जान लिया कि ये तो नर-रूपमें साक्षात् हरि हैं। माहात्म्य-ज्ञान-पूर्वक सरकारके दर्शनसे सारी वासनाएँ शान्त हो गयीं, चित्त स्थिर हो गया, असार संसार मालूम पड़ने लगा, वालि भी मित्र दिखायी पड़ने लगे जिसके कारणसे भगवत्प्राप्ति हुई, 'सर्वं त्यक्त्वा हरिं भजेत्' यह भावना मनमें उठी, यथा—*'जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥ प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई। जिमि खगेस जलकै चिकनाई॥'*

नोट—३ 'सुग्रीव वालिको मन-कर्म-वचनसे महाबलवान् समझता था—*'रिपुबल सहै न पारा'*, *'परिखेहु मोहि एक पखवारा'*, *'बाली ताहि मारि गृह आवा'*, *'दुंदुभि अस्थिताल देखराये'* इत्यादि, इसके उदाहरण सुग्रीवके वचनोंमें ही आये हैं। श्रीरामजीने भी मन-वचन-कर्मसे अपना अमित बल उसे दिखाकर संतुष्ट किया, यथा—क्रमसे—*'मारिहौं बालिहि एकहि बान'* और *'ब्रह्म रुद्र सरनागत गए न उबरिहि प्रान'* में वचन और मन दोनों आ गये, और *'बिनु प्रयास रघुनाथ ढहाए'* कर्म है।

सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहौं सेवकाई॥ १६॥
ए* सब राम भगति के बाधक। कहहिं संत तव पद अवराधक॥ १७॥
सत्रु मित्र सुख दुख जग माहीं। मायाकृत परमारथ नाहीं॥ १८॥

---

* 'ए' (क०)।

अर्थ—सुख, सम्पत्ति, परिवार और बड़ाई, (इन) सबको छोड़कर मैं आपकी मात्र सेवा करूँगा॥ १६॥ हे राम! आपके चरणोंकी आराधना करनेवाले सन्त कहते हैं कि ये सब रामभक्तिके बाधक हैं॥ १७॥ संसारमें जितने भी शत्रु, मित्र और सुख-दुःख हैं वे सब मायाके किये हुए हैं; अर्थात् सब मिथ्या हैं, परमार्थ नहीं हैं (वा परमार्थमें ये कुछ नहीं हैं)॥ १८॥

नोट—१ सुग्रीवके ज्ञानमय वचनोंका श्रीलक्ष्मणजीके गुहप्रति-उपदेशसे मिलान कीजिये—*'जोग बियोग भोग भल मंदा। हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा॥ जनम मरन जहँ लगि जगजालू। संपति बिपति करम अरु कालू॥ धरनि धाम धन पुर परिवारू। सरग नरक जहँ लगि ब्यवहारू॥ देखिअ सुनिअ गुनिअ मन माहीं। मोह मूल परमारथ नाहीं॥ सपने होइ भिखारि नृप रंक नाकपति होइ। जागे लाभ न हानि कछु तिमि प्रपंच जिय जोइ॥'* (अ० ९२) *'मोह निसा सब सोवनिहारा। देखिअ सपन अनेक प्रकारा॥ जानिअ तबहिं जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा॥ होइ बिबेक मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा॥ सखा परम परमारथ एहू। मन क्रम बचन रामपद नेहू॥ सखा समुझि अस परिहरि मोहू। सियरघुबीर चरन रत होहू॥'*

इस उद्धरणके *'हित[1] अनहित'*; *'भोग[2] भल मंदा'* वा *'संपति बिपति'*; *'धरनि[3] धाम धन पुर'*; *'परिवारू[4]'*; *'प्रपंच[5]'*; *'मोहमूल[6] परमारथ नाहीं'*; *'सपने[7] होइ भिखारि नृप…॥'* (९२)…*'देखिअ सपन अनेक प्रकारा।'* *'होइ[8] बिबेक मोह भ्रम भागा'* और *'जानिअ तबहि जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा।'* की जगह उसी भावके शब्द यहाँ क्रमसे ये हैं—(१) *'सत्रु मित्र'*; (२) सुख-दुख; (३) *'सुख-संपति बड़ाई'*, (४) *परिवार*; (५) *जगमाहीं*; (६) *मायाकृत परमारथ नाहीं*; (७) *'सपने जेहि सन होइ लराई। जागे समुझत मन सकुचाई॥'*; (८) *'उपजा ज्ञान बचन तब बोला। नाथ कृपा मन भयउ अलोला।'* और (९) *'ए सब रामभगति के बाधक'*, *'सब परिहरि करिहउँ सेवकाई'* *'अब प्रभु कृपा करहु…॥'* *'सुनि बिराग संजुत कपि बानी।'*

दोनोंके मिलानसे स्पष्ट हो गया कि—*'मोहमूल'* और *'मायाकृत'* का भाव एक है। *'उपजा ज्ञान……'* में *'होइ बिबेक मोह भ्रम भागा'* का भाव है। अर्थात् उसका मोह भ्रम जाता रहा, उसको निश्चय हो गया कि ये केवल दशरथनन्दन ही नहीं हैं किन्तु परब्रह्म परमात्मा हैं। मोह भ्रम दूर होनेसे श्रीरामजीके चरणोंमें अनुराग उत्पन्न हुआ और उसने सोचा कि *'सब परिहरि करिहउँ सेवकाई'*, अतएव यही वर आगे माँग रहे हैं। *'मन भयउ अलोला'* में *'सब बिषय बिलास बिरागा'* का भाव है।

टिप्पणी—१ *'सुख संपति…'* इति। सुग्रीवको विश्वास हो गया कि ये वालिको मारकर मुझे राज्य देंगे, मुझे फिर सुख, सम्पत्ति, परिवार और बड़ाई प्राप्त होगी। इसीसे उन सबको त्याग करनेको कहते हैं।

टिप्पणी—२ *'ए सब राम भगति के बाधक।…'* इति। तात्पर्य कि जो भक्ति करते हैं उन्हें ये सब बाधक जान पड़ते हैं और अन्य लोग तो इन्हें गुण समझते हैं। *'बाधक'* कहनेका भाव कि इनके रहनेसे रामजीका स्मरण भूल जाता है। इसके उदाहरण स्वयं सुग्रीव ही हैं, यथा—*'सुग्रीवहु सुधि मोरि बिसारी। पावा राज कोस पुर नारी॥'*

टिप्पणी—३ *'मायाकृत परमारथ नाहीं।'* इति। रामजीके चरणोंमें अनुराग होना परमार्थ है, यथा—*'सखा परम परमारथ एहू। मन क्रम बचन रामपद नेहू॥'* इसीसे कहते हैं कि सब छोड़कर आपके चरणोंमें अनुराग करूँगा, यथा—*'सब परिहरि करिहौं सेवकाई।'*

प० प० प्र०—राम *'ब्रह्म परमारथ रूपा'* हैं, आत्मानुभव सुख ही परमार्थकी प्राप्ति है। परमार्थप्राप्तिसे दोष-दुःखादि मिट जाते हैं। यथा—*'करत प्रबेस मिटे दुख दावा। जनु जोगी परमारथ पावा॥'* (२। २३९। ३)

सुग्रीवजीने परमार्थ तो पा लिया, पर अभी उन्हें परम परमार्थकी प्राप्ति करना है। *'मन क्रम बचन राम पद नेहू'* होना परम परमार्थ है। इसीसे उसकी प्रार्थना करते हैं।

नोट—२ *'ए सब रामभगतिके बाधक।……'* इति। सांसारिक विषय-सुख पाकर मनुष्य आलसी हो जाता है; इसीसे परम भागवत अम्बरीष आदिने भगवत्-सेवामें भी अपनी रानीतकसे (पार्षदमञ्जन चौकालेपन आदि)

किञ्चित् सेवा भी लेना स्वीकार न किया। सम्पत्ति (=धन, ऐश्वर्य) तो पञ्चमदोंमेंसे ही एक है, परिवारवाला उन्हींकी चिन्तामें मग्न रहता है, यथा—*'अबुध कुटुंबी जिमि धनहीना।'* आज किसीका ब्याह है, तो कल कोई रोगवश होता है, इत्यादिमें ही चित्त फँसा रह जाता है। बड़ाईमें तो अभिमानका होना सहज ही है; हमें सब मान्यता देते हैं, हम सबके सामने मूर्तिको वा संतवेषको मस्तक कैसे नवावें, इत्यादि। यथा—*'बड़ाईमें समाई मति भई पै न नित ही बिचार अब मन पर खीजिये……'* (भक्तिरसबोधिनी-टीका, कवित्त १३८) भगवान्‌की नीच टहल करनेमें लज्जा लगती है। अतएव सबको बाधक कहा।

नोट—३ *'कहहिं संत'* का भाव कि ये संत हैं, इससे उनका वचन प्रामाणिक है, असत्य नहीं हो सकता। संतोंको ये सब बाधक अनुभव हुए हैं, तब हम ऐसे पामर प्राणियोंकी गिनती ही क्या? अतएव ये त्याग-योग्य हैं।

नोट—४ *'सत्रु मित्र सुख दुख'''* इति। यहाँ प्रस्तुत प्रसंग वालिकी शत्रुता है। इसीसे *'सत्रु'* को प्रथम कहा। 'माया कृत' का भाव वही है जो श्रीलक्ष्मणगीताके 'मोहमूल' का है। अ० ९२ (८) देखो। अर्थात् ये सब स्वप्नवत् अनित्य हैं, जबतक अज्ञान है तभीतक ये सत्य जान पड़ते हैं, पर हैं ये सब असत्य; सब मनरूपी चित्रकारने गढ़ लिये हैं; वस्तुतः संसारमें अपना न कोई शत्रु है न मित्र, अपना मन ही शत्रु है, जो भगवत्-विमुख करके हमको सांसारिक वासनाओंमें डालता है। पुनः, *'मैं अरु मोर तोर तैं'* यही मायाका स्वरूप है। अहंममसे ही शत्रु-मित्रभाव उत्पन्न होता है, जब अहंमम नहीं तब न कोई शत्रु है न मित्र। पहिले वालि मित्र था। जब उसने राज्य और स्त्री ले ली तब (इनमें ममत्व होनेके कारण) वह शत्रु मान लिया गया। कोई किसीको सुख वा दुःख न देता है, न दे सकता है। यथा—*'काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत कर्म भोग सब भ्राता॥'* (२। ९२। ४)

नोट—५ अ० रा० कि० सर्ग १ में भी इसी प्रकारका प्रसंग है। सप्ततालोंके बेधनेपर सुग्रीवको विस्मय और हर्ष हुआ और उन्होंने ज्ञान और वैराग्यके वचन कहे हैं। मिलान कीजिये—'**ततोऽतिहर्षात्सुग्रीवो राममाहातिविस्मितः॥ देव त्वं जगतां नाथः परमात्मा न संशयः।'''॥ त्वां भजन्ति महात्मानः संसारविनिवृत्तये। त्वां प्राप्य मोक्षसचिवं प्रार्थयेऽहं कथं भवम्॥ दाराः पुत्रा धनं राज्यं सर्वं त्वन्मायया कृतम्। अतोऽहं देवदेवेश नाकाङ्क्षेऽन्यत्प्रसीद मे॥ आनन्दानुभवं त्वाद्य प्राप्तोऽहं भाग्यगौरवात्। मृदर्थं यतमानेन निधानमिव सत्पते॥ तत्तिष्ठतु मनो राम त्वयि नान्यत्र मे सदा॥ न काङ्क्षे विजयं राम न च दारसुखादिकम्। भक्तिमेव सदा काङ्क्षे त्वयि बन्धविमोचनीम्॥ त्वन्मायाकृतसंसारस्त्वदंशोऽहं रघूत्तम॥ पूर्वं मित्रार्युदासीनास्त्वन्मायावृतचेतसः। आसन्मेऽद्य भवत्पाददर्शनादेव राघव॥ सर्वं ब्रह्मैव मे भाति क्व मित्रं क्व च मे रिपुः।''''॥ मायामूलमिदं सर्वं पुत्रदारादिबन्धनम्।'''॥**' (७५—७९, ८३, ८५—८८, ९०) अर्थात् तब सुग्रीवने आश्चर्यचकित होकर श्रीरामचन्द्रजीसे अत्यन्त हर्षके साथ कहा—हे देव! आप जगत्‌के स्वामी परमात्मा हैं इसमें संशय नहीं। महात्मा लोग संसारसे निवृत्तिके लिये आपका भजन करते हैं; तब मोक्षको देनेवाले आपको पाकर अब मैं संसारी पदार्थोंकी याचना कैसे कर सकता हूँ? हे देवदेवेश! स्त्री, पुत्र, धन, राज्य आदि सब आपकी मायाके कार्य हैं, अतएव अब मुझे किसी पदार्थकी इच्छा नहीं है, आप मुझपर कृपा करें। आज मुझे बड़े भाग्यसे आनन्दस्वरूप आप प्राप्त हुए हैं, मिट्टी खोदते हुए जैसे किसीको खजाना मिल जाय। मेरा मन सदा आपमें ही लगा रहे अन्यत्र कहीं न जाय। अब मुझे वालिको जीतने अथवा स्त्री आदिका सुख प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं है। भवबन्धन छुड़ानेवाली आपकी सतत भक्तिको ही चाहता हूँ। यह संसार आपकी मायाका विलास है। मायाकृत चित्त होनेसे पहले मुझे शत्रु-मित्र उदासीन दिखायी देते थे। अब आपका दर्शन पाते ही मुझे सब कुछ ब्रह्मरूप ही भासता है, मेरा कौन मित्र है, कौन शत्रु? ये पुत्र, स्त्री आदि सम्पूर्ण बन्धन मायामय ही हैं।

नोट—६ (क) '**देव त्वं जगतां नाथः परमात्मा न संशयः**' ही यहाँ *'प्रभुहि जानि'* है। अतः *'प्रभुहि जानि'* का भाव कि ये सम्पूर्ण जगत्‌के स्वामी परब्रह्म परमात्मा हैं यह जाना। (ख) '**ततोऽतिहर्षात्सुग्रीवो**'

ही *'मन हरष कपीसा'* है। 'अतिविस्मितः' का भाव *'बार बार नावइ पद सीसा'* में आ जाता है, अमित बल देखकर विस्मित आश्चर्यान्वित हो गये हैं, अतः महिमा जानकर बारम्बार प्रणाम करते हैं, सोचते हैं कि मुझसे बड़ा अपराध हुआ, मैंने इनको राजकुमारमात्र ही समझ लिया था और सखा समझकर इनकी परीक्षा ली, मुझसे यह बड़ा अनर्थ हुआ; अतः बार-बार प्रणाम करते हैं। इसी तरह सतीजी श्रीरामजीका प्रभाव देखकर *'पुनि पुनि नाइ राम पद सीसा।'* (१।५५।८) और श्रीकौसल्या अम्बाजीने भी *'चरननि सिरु नावा'* (ग) **'त्वां भजन्ति महात्मानः संसारविनिवृत्तये'''''।।'** (७७) का भाव *'ए सब रामभगति के बाधक। कहहिं संत तव पद अवराधक॥'* इस अर्धालीमें है। अर्थात् सुख-सम्पत्ति, परिवार, बड़ाई इत्यादिको संसारबन्धनमें डालनेवाले, प्रभुसे विमुख करनेवाले, अतएव भजनके बाधक जानकर वे इन सबका त्याग करके आपका भजन करते हैं, तब मुझे भी इस बन्धनमें न पड़कर भजन करना ही उचित है। संतोंके अनुभवका लाभ उठाना ही हमारा कर्तव्य है। (घ) **'दाराः पुत्रा धनं राज्यं सर्वं त्वन्मायया कृतम्॥'** (७८), **'त्वन्मायाकृतसंसारः'** और **'मायामूलमिदं सर्वं पुत्रदारादिबन्धनम्॥'** (९०) ही मानसका *'सत्रु मित्र सुख दुख जग माहीं। मायाकृत परमारथ नाहीं॥'* है। भाव कि जबतक आपकी मायाका आवरण बना रहा तबतक शत्रु, मित्र आदि भाव हृदयमें बने रहे, त्रिविध एषणाएँ रहीं, अब आपकी कृपासे मायाका आवरण हट जानेसे, ज्ञान होनेसे मेरा चित्त शान्त हो गया। अतः अब मुझे किसीकी चाह नहीं रह गयी। (ङ) **'आनन्दानुभवं त्वाद्य प्राप्तोऽहं भाग्यगौरवात्॥'** (७९) **'नाकाङ्क्षेऽन्यत्प्रसीद मे'** का भाव *'नाथ कृपा मन भयउ अलोला'* में है। अर्थात् बड़े भाग्यसे (आपकी आकस्मिक कृपासे) मुझे आनन्दानुभव, आत्मज्ञान, प्राप्त हो गया, **'अनाद्यविद्यासंसिद्धं बन्धनं छिन्नमद्य नः॥'** (८०) अनादि अविद्याजन्य बन्धन आज कट गया, मोह जाता रहा। सारा जगत् राममय ही दिखायी दे रहा है, न कोई मेरा शत्रु है न मित्र। **'सर्वं ब्रह्मैव मे भाति क्व मित्रं क्व च मे रिपुः।'** इत्यादि सब भाव इसमें आ गये। (च) **'पूर्वं मित्रार्युदासीनास्त्वन्मायावृतचेतसः।'''** (८७) का भाव *'सपनें जेहि सन होइ लराई। जागें समुझत मन सकुचाई॥'* में है। अर्थात् मायाका आवरण हटनेपर अब वह सब भ्रम जान पड़ा। (छ) **'तत्तिष्ठतु मनो राम त्वयि नान्यत्र मे सदा॥'** (८३) **'न काङ्क्षे विजयं राम न च दारसुखादिकम्। भक्तिमेव सदा काङ्क्षे त्वयि बन्धविमोचनीम्॥'** (८५) ही यहाँ *'अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि भजन करउँ दिन राती॥'* है। (ज) *'दिन रात भजन करें'* इसमें अ० रा० के श्लोक ११, १२, १३ आ जाते हैं।

बालि परमहित जासु प्रसादा। मिलेहु राम तुम्ह समन बिषादा॥१९॥
सपने जेहि सन होइ लराई। जागत समुझत मन सकुचाई॥२०॥

अर्थ—हे रामजी! वालि तो मेरा परम हितकारी है कि जिसकी कृपासे दुःखके नाश करनेवाले आप मुझे मिले (अर्थात् यदि वालिने मेरा सर्वस्व हरण न किया होता, मुझे निकाल न दिया होता और मुझसे शत्रुता न रखता तो मैं यहाँ क्यों आता और तब मुझे आप क्यों मिलते? उसका विरोध मेरे लिये उसकी कृपा है, उसीसे मेरा परम हित हुआ)॥१९॥ जिससे स्वप्नमें लड़ाई हो तो जागनेपर उसे समझकर मनमें संकोच हो (कि ऐसे परमहितसे मैं कैसे स्वप्नमें भी लड़ा?)॥२०॥

टिप्पणी—१ (क) *'परम हित'* इति। जो सांसारिक उपकार करे वह हित है और जो आपको मिला दे वह परमहित है। तात्पर्य कि अब आप वालिको न मारें। जिसके क्रोधसे ईश्वर मिलें उसका क्रोध, क्रोध नहीं है वह तो प्रसाद है; इसीसे सुग्रीव वालिके कोपको 'प्रसाद' कह रहे हैं। यहाँ 'अनुज्ञा अलङ्कार' है।—(वीरकविजी और दीनजी यहाँ 'श्लेष अलङ्कार' कहते हैं।) (ख) *'समन बिषादा'* अर्थात् जन्म-मरणादि दुःखके दूर करनेवाले।

टिप्पणी—२ *'सपने जेहि सन होइ लराई।'''* इति। भाव कि स्वप्नमें भी जब उससे लड़ाई होनेसे मुझे संकोच होगा तो अब उससे मैं स्वप्नमें भी नहीं लड़ूँगा।

दीनजी—भाव यह है कि वालीसे हमारी लड़ाई स्वप्नवत् है। अब मुझे संकोच हो रहा है कि उसने तो मेरी कोई बुराई नहीं की, बल्कि मेरा परमहित किया है।

नोट—१ पंजाबीजी लिखते हैं कि वालीको परमहित कहनेपर सम्भव था कि प्रभु कहते कि अभी-अभी तो तुम उसे शत्रु कहते थे और इतने ही देरमें अपना हितकारी कहने लगे; इसपर सुग्रीव कहते हैं कि *'सपने जेहि'*…।' अर्थात् आप सत्य कहते हैं, परंतु जैसे कोई स्वप्न देखे कि मुझसे किसीसे लड़ाई हुई और फिर जाग पड़े तो उस पुरुषको देखकर मनमें संकोच और लज्जा प्राप्त हो, वैसे ही मैंने जो कुछ कहा था वह सब अज्ञान-दशामें कहा था, अब अज्ञानरूपी स्वप्न मिट गया, अतः शत्रुता झूठ जान पड़ी। अब पूर्व वचनोंको याद करके लज्जा होती है। [*'सपने'*…' इति। यह दृष्टान्त है। दार्ष्टान्तमें 'मोह' रात्रि है। उसीमें जीव पड़ा सो रहा है। मैं राजा हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, मैं धनी हूँ, वह मेरा शत्रु है, यह मित्र है, ये मेरी स्त्री है, इत्यादि सब जगत्‌के व्यवहार स्वप्न हैं जो जीव देख रहा है। विषयोंमें विधिप्रपञ्चसे वैराग्य होना जागना है। यथा—*'जानिय तबहि जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा॥'*] करुणासिंधुजी आदिने भी ऐसा ही अर्थ किया है।

अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि भजन करौं दिनु राती॥ २१॥

अर्थ—हे प्रभो! अब तो इस प्रकारकी कृपा आप करें कि सब छोड़कर मैं दिन-रात भजन करूँ॥ २१॥

टिप्पणी—१ (क) *'अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती'*, इस चरणका सम्बन्ध पूर्व और पर दोनोंसे है। 'जो स्वप्नमें हमसे और वालीसे लड़ाई हो तो जागनेमें हमारा मन सकुचाय', अब इस प्रकारकी कृपा कीजिये—यह पूर्वसे सम्बन्ध है। और 'सब छोड़कर दिन-रात भजन करूँ, अब इस भाँतिसे कृपा कीजिये'—यह परसे सम्बन्ध है। (ख) *'इस भाँति कृपा करो'* इस कथनका भाव यह है कि जो आपकी प्रथम मुझपर कृपा हुई थी—*'सखा सोच त्यागहु बल मोरे। सब बिधि घटब काज मैं तोरे॥ सुनु सुग्रीव मैं मारिहौं बालिहि'*…'—वह कृपा अब न कीजिये, उसे अब मैं नहीं चाहता। अब तो इस भाँतिकी कृपा कीजिये कि दिन-रात आपका भजन करूँ।

टिप्पणी—२ (क) ☞भजनके सम्बन्धमें तीन बार वचन कहे। (१) *'सब परिहरि करिहौं सेवकाई।'* (२) *'ये सब रामभगतिके बाधक।'* और (३) *'सब तजि भजन करौं दिनराती।'* तीनों स्थानोंमें *'सब'* पदका प्रयोग किया है। इसमें भाव यह है कि इन विकारोंमेंसे यदि एक भी विकार रह जाय तो वह रामभक्तिमें बाधा करेगा। (ख) ज्ञान और वैराग्य होनेपर भजन माँगते हैं। इससे यह सूचित हुआ कि ज्ञान और वैराग्यका फल भक्ति है। (पं०) (क) *'कृपा करहु'* से जनाया कि बिना आपकी कृपाके भजन नहीं बनता। ☞ 'सुग्रीवके मतानुसार सभी कामोंकी सिद्धिके लिये रामकृपा ही मुख्य है।' यथा—*'नाथ कृपा मन भयो अलोला।' 'अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि भजन करौं'*…॥' *यह गुन साधन ते नहिं होई। तुम्हरी कृपा पाव कोई कोई॥'* इत्यादि (घ) यहाँ निर्वेद है। यथा—*'जेहि तेहि बिधि संसार सुख देखत उपजै खेद। उदासीनता जगत ते सो कहिए निर्बेद॥'* इसीसे इन वचनोंको आगे कवि *'बिराग संजुत बानी'* कहते हैं।

नोट—१ *'अब प्रभु कृपा करहु'* से सूचित करते हैं कि मायाका आवरण दूर होनेपर ज्ञानका उदय भी हो जाय तो भी बिना रामकृपाके उसकी स्थिति असम्भव है। सुग्रीव 'भजन' भक्ति माँगते हैं, ज्ञान-विज्ञान, मोक्षादि नहीं माँगते; क्योंकि भक्तिसे ये सब स्वतः ही आ जाते हैं। यथा—*'भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृतिमूल अबिद्या नासा॥' 'राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं॥'*…तथा *मोच्छसुख सुनु खगराई। रहि न सकइ हरिभगति बिहाई॥'* (७। ११९) एवं *'तेहि आधीन ज्ञान बिज्ञाना।'*

नोट—२ *'भजन करउँ दिनु राती'* इति। अ० रा० में जो प्रार्थना की है—'त्वत्पादपद्मार्पितचित्तवृत्तिस्त्वन्नामसङ्गीत-कथासु वाणी। त्वद्भक्तसेवानिरतौ करौ मे त्वदङ्गसङ्गं लभतां मदङ्गम्॥' 'त्वन्मूर्तिभक्तान् स्वगुरुं च चक्षुः पश्यत्वजस्रं स शृणोतु कर्णः। त्वज्जन्मकर्माणि च पादयुग्मं व्रजत्वजस्रं तव मन्दिराणि॥ अङ्गानि ते

पादरजोविमिश्रतीर्थानि बिभ्रत्वहिशत्रुकेतो। शिरस्त्वदीयं भवपद्मजाद्यैर्जुष्टं पदं राम नमत्वजस्रम्॥ (१। ९१—९३) 'प्रभो! मेरा चित्त आपके चरणकमलोंमें, वाणी आपके नाम-संकीर्तन तथा कथामें और मेरे दोनों हाथ आपके भक्तोंकी सेवामें लगे रहें। मेरा शरीर आपका अङ्गसङ्ग करता रहे। नेत्र आपकी मूर्ति, आपके भक्तों और अपने गुरुका दर्शन, कान निरन्तर आपके जन्म-कर्म अर्थात् लीलाओंका श्रवण, और पैर आपके मन्दिरोंकी यात्रा करते रहें। मेरा शरीर आपके चरणरजसे युक्त तीर्थोदकको धारण करे और मेरा सिर शिवब्रह्मादिसे सेवित आपके चरणोंमें प्रणाम किया करे।'—यही दिन-रात भजनका मार्ग है।

वाल्मीकिजीके बताये चौदह स्थानोंमेंसे यही प्रथम चार स्थान हैं—(२। १२८। ४) से (१२९। ५) तक।

नोट—३ 'भजन' करनेवालेको क्या करना चाहिये, यह गोस्वामीजीने स्वयं अपने मनको उपदेश करते हुए यों बताया है—'***जौ मन भज्यो चहै हरि सुरतरु। तौ तजि बिषय बिकार सार भजु अजहूँ ते जो मैं कहौं सोई करु। सम संतोष बिचार बिमल अति सतसंगति ये चारि दृढ़ करि धरु॥ काम क्रोध अरु लोभ मोह मद राग द्वेष निसेष करि परिहरु॥ श्रवन कथा मुख नाम हृदय हरि सिर प्रनाम सेवा कर अनुसरु। नयनन निरखि कृपासमुद्र हरि अग-जग-रूप भूप सीताबरु॥ इहै भगति बैराग्य ज्ञान यह हरितोषन यह शुभ ब्रत आचरु। तुलसिदास सिवमत मारग यहि चलत सदा सपनेहुँ नाहिंन डरु॥***' (वि० २०५) '***भजन करउँ दिनु राती***' कहकर जनाया कि यह सब अब मैं करना चाहता हूँ, आपसे यही वर माँगता हूँ। उपर्युक्त पद्यमें जो कहा है वह सुग्रीवके वचनोंमें चरितार्थ है। 'उपजा ज्ञान' में '***सम संतोष बिचार बिमल अति***' चरितार्थ हुआ। स्त्रीकी कामना न रह गयी, वालिपर क्रोध न रह गया, राज्य-सम्पत्तिका लोभ न रह गया, बड़ाईका मद न रह गया, कामादिके न रहनेसे राग-द्वेष भी न रह गये। पुनः, '***मन भयउ अलोला***' अतः सम सन्तोष और अत्यन्त विमल विचार उत्पन्न हो गये; '***सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहउँ सेवकाई॥***' से लेकर '***मिलेहु राम तुम्ह समन बिषादा।***' तक सब अत्यन्त विमल विचार हैं और इन्हींमें काम क्रोधादिका त्याग भी करनेकी बात है। पर विनयमें जो कहा है कि '***ए चारि दृढ़ करि धरु***' वह अपने वशकी बात नहीं है, अतः प्रार्थना करते हैं कि ऐसी कृपा कर दीजिये कि दृढ़तापूर्वक भजन कर सकूँ। आगे कहा ही है—'***यह गुन साधन ते नहिं होई। तुम्हरी कृपा पाव कोइ कोई॥***' (२१। ६) पुनः यथा '***सो रघुनाथ भगति श्रुति गाई। रामकृपा काहू एक पाई॥***' (७। १२६। ८) कृपा होनेसे अन्य सभी प्रकारसे भजन होने लगेगा।

पुनः, '***दिन राती***'—जागते-सोते दोनों दशाओंमें, क्योंकि दिन जागनेके लिये और रात्रि विश्रामके लिये है। निरन्तर।

प० प० प्र०—'***दिन राती***' इति। दिन जागृतिका समय है और रात्रिमें निद्रा तथा स्वप्न होते हैं। '***दिन राती***' कहकर जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओंमें भजन कर सकनेकी शक्तिकी प्रार्थना जनायी।

सुनि बिराग संजुत कपि बानी। बोले बिहँसि राम धनुपानी॥ २२॥
जो कछु कहेहु सत्य सब सोई। सखा बचन मम मृषा न होई॥ २३॥

अर्थ—कपिकी वैराग्ययुक्त वाणी सुनकर धनुर्धर श्रीरामजी हँसकर बोले॥ २२॥ जो कुछ तुमने कहा वही सब सत्य है, (पर) हे सखे! मेरा वचन झूठ न होगा। अर्थात् वालि मारा जायगा और तुमको राज्य और स्त्री मिलेगी॥ २३॥

नोट—१ इन चौपाइयोंसे मिलते हुए श्लोक अ० रा० में ये हैं—'**रामः सुग्रीवमालोक्य सस्मितं वाक्यमब्रवीत्। मायां मोहकरीं तस्मिन् वितन्वन् कार्यसिद्धये। सखे त्वदुक्तं यत्तन्मां सत्यमेव न संशयः॥ किन्तु लोका वदिष्यन्ति मामेवं रघुनन्दनः। कृतवान् किं कपीन्द्राय सख्यं कृत्वाग्निसाक्षिकम्॥ इति लोकापवादो मे भविष्यति न संशयः।**' (४। २। १—४) अर्थात् सुग्रीवजीकी ओर देखते हुए श्रीरामचन्द्रजी कार्य सिद्ध करनेके लिये उसपर अपनी मोह उत्पन्न करनेवाली मायाका विस्तार करते हुए मुसकराकर बोले—'सखे! तुमने जो कुछ मुझसे कहा है सब सत्य है, इसमें संदेह नहीं। किंतु लोग मेरे सम्बन्धमें कहेंगे कि रघुनन्दनने वानरराजसे अग्निको

साक्षी बनाकर मित्रता की थी, सो उन्होंने सुग्रीवका कौन कार्य सिद्ध किया? इस प्रकार मेरी लोगोंमें निन्दा होगी, इसमें संदेह नहीं है।

जो इन श्लोकोंमें कहा गया है, वही इन चौपाइयोंके तीन चरणोंमें सूक्ष्म रीतिसे कहा है। दोनोंके मिलानसे भाव स्पष्ट हो जाते हैं। अतः हम दोनोंका मिलान यहाँ देते हैं। *'बोले'* से **'सुग्रीवमालोक्य वाक्यमब्रवीत्'** का अर्थ जना दिया। अर्थात् सुग्रीवकी ओर देखकर ये वचन बोले। *'बिहँसि'* में ही **'सस्मितं मायां मोहकरीं तस्मिन्वितन्वन् कार्यसिद्धये'** का भाव है। अर्थात् कार्य सिद्ध करनेके लिये उसपर अपनी मोह उत्पन्न करनेवाली मायाका विस्तार करते हुए मुसकराकर। इसमें हँसनेका कारण भी आ गया। *'राम'* शब्द दोनोंमें है।

'जो कछु कहेहु' **'त्वदुक्तं यत् मां'** (जो कुछ तुमने मुझसे कहा) का अनुवाद है। *'सत्य सब सोई'* ही **'सत्यमेव न संशयः'** है। *'सोई'* में *'जो कछु कहेहु'* और *'न संशयः'* दोनोंका भाव है। *'सखा बचन मम मृषा न होई'* में 'सखे!', **'किन्तु लोका वदिष्यन्ति''भविष्यति न संशयः'** इन श्लोकोंका भाव कहा गया है। भाव कि पहले तो तुम्हारे सचिव एवं दूत हनुमान्ने तुम्हारे लिये मुझसे प्रार्थना की कि *'तेहि सन नाथ मयत्री कीजै। दीन जानि तेहि अभय करीजै॥'* (४। ४। ३) फिर अग्निको साक्षी बनाकर उन्होंने हम दोनोंकी मित्रता करायी। मित्रता हो जानेपर तुमने अपने वनवासका कारण कहते हुए वालिको अपना शत्रु बताया और कहा कि *'रिपु सम मोहि मारेसि अति भारी। हरि लीन्हेसि सर्बसु अरु नारी॥ ताकें भय रघुबीर कृपाला। सकल भुवन मैं फिरेउँ बिहाला॥ इहाँ साप बस आवत नाहीं। तदपि सभीत रहउँ मन माहीं॥'* (४। ६। ११—१३) *'रघुबीर कृपाला'* सम्बोधन देकर तुमने मुझसे दुःख दूर करने और शत्रुको मारनेकी प्रार्थना की। तब मैंने तुम्हारे दुःखसे दुःखी होकर प्रतिज्ञा की कि *'मारिहउँ बालिहि एकहि बान।'''* और मित्रका धर्म कहकर मैंने तुमको वचन दिया था कि *'सखा सोच त्यागहु बल मोरें। सब बिधि घटब काज मैं तोरें॥'* समस्त लोक जानता है कि मैं सत्यप्रतिज्ञ हूँ, मेरे मुखसे जो वचन निकल गया वह होकर रहेगा, वह असत्य नहीं हो सकता। यद्यपि तुमने जो कहा है वह सत्य है। सुख-सम्पत्ति आदि सब भक्तिके बाधक हैं, संसारमें कोई किसीका शत्रु-मित्र, स्त्री-पुत्र आदि नहीं है, इत्यादि। भगवान्का भजन ही सार है—*'सत हरि भजन जगत सब सपना'''।'* तथापि यदि तुम राज्यादिसे उपराम हो जाओगे तो मेरी अपकीर्त्ति होगी। लोग कहेंगे कि श्रीरघुनाथजीने सुग्रीवसे मित्रता की, उसका दुःख दूर करनेकी प्रतिज्ञा की, उन्होंने सुग्रीवका कौन काम किया? कोई भी तो नहीं। अतः मैं अपनी प्रतिज्ञा नहीं छोड़ सकता। वालि अवश्य मारा जायेगा और तुमको तुम्हारी स्त्री और राज्य पुनः प्राप्त होंगे। **'सखा'** सम्बोधनमें यह भी भाव है कि तुम हमारे **'सखा'** हो, जिस हेतुसे हमारा-तुम्हारा सख्यभाव स्थापित हुआ वह मुझे और तुम्हें दोनोंका कर्तव्य है। क्या तुम कभी चाहोगे कि मुझे अपयश प्राप्त हो? कदापि नहीं। *'धनु पानी'* शब्दकी जोड़का विशेषण अ० रा० में नहीं है। इसके भाव आगे टिप्पणियोंमें आ गये हैं।

टिप्पणी—१ *'सुनि बिराग संजुत'''* इति। (क) इस समय सुग्रीवको ज्ञान, वैराग्य और भक्ति तीनों प्राप्त हैं। यथा क्रमसे *'उपजा ज्ञान बचन तब बोला', 'सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि'''* और *'सब तजि भजन करौं दिनु राती।'* [पहिले सुग्रीवने लौकिक त्याग कहा। *'सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहौं सेवकाई॥ ये सब राम भगति के बाधक।'* यह लौकिक वस्तुओंका त्याग है। फिर चारों मोक्षोंका अन्ततः त्याग किया। *'अब प्रभु कृपा''। सब तजि भजन करउँ'''''* यह मोक्षों वा परमार्थका त्याग है। अतः वाणीको *'बिराग संजुत'* कहा। (मा० म०) यहाँ *'बिराग संजुत बानी'* के साथ *'कपि'* शब्द देकर जनाया कि इनका यह वैराग्य स्थिर रहनेवाला नहीं है। कपि चञ्चल प्रसिद्ध ही है, यथा—*'कपि चंचल सब ही बिधि हीना।'* (५। ७। ७) अतः इसके वैराग्यकथनका कारण इसका चञ्चल स्वभाव ही है।]
(ख) *'बोले बिहँसि'*। अपना कार्य सिद्ध करनेके लिये प्रभुने सुग्रीवपर अपनी मायाका विस्तार किया, क्योंकि प्रभुका हँसना माया है, यथा—*'माया हास'''*। उनका विहँसना था कि सुग्रीव मायामें फँस गये। ज्ञान, वैराग्य और भक्ति तीनोंमेंसे एक भी न रह गया, सभी जाते रहे। ज्ञान न रहा, यथा—*'बिषय मोर हरि लीन्हेउ ज्ञाना।'* (१९। ३) वैराग्य जाता रहा; यथा—*'पावा राज कोस पुर नारी।'* (१८। ४) और भक्ति न रही, यथा *'सुग्रीवहु सुधि मोरि बिसारी'*। (१८।४)

नोट—२ पंजाबीजी हँसनेके कारण ये लिखते हैं कि—(१) सुग्रीवकी जातिकी चपलता विचारकर हँसे कि अभी-अभी तो वालिको शत्रु कहता था और अब परमहित कहने लगा। वा, (२) यह सोचकर हँसे कि जब हमने वालिवधकी प्रतिज्ञा की तब ज्ञानकी चर्चा करके भ्रातृवधसे अपनेको निर्दोष करना चाहता है। वा, (३) इससे अपनी प्रसन्नता प्रकट की कि सुग्रीवको ज्ञान उत्पन्न हुआ है, वह ज्ञानकी वार्ता करने लगा है, आगे दृढ़ भी हो जायेगा।

प० प० प्र०—स्वामीका मत है कि सुग्रीवकी इस प्रार्थनासे श्रीरामजी बड़े असमंजसमें, धर्मसंकटमें पड़ गये, क्योंकि सुग्रीवकी इच्छा पूर्ण करनेसे प्रतिज्ञा भङ्ग होगी और *'रघुकुलरीति सदा चलि आई। प्रान जाहु बरु बचन न जाई॥'* और उधर इच्छा पूरी न करनेसे *'दीनबंधु कृपाल रघुराई'* इस सुयशका नाश होगा। अत: अपनी योगमायाको प्रेरित करनेके लिये *'बिहँसे।'*

नोट—३ *'धनुपानी'* विशेषणका भाव कि धनुष इनके हाथमें है, ये पहले इसका कार्य करेंगे, वालीको मारेंगे। जिस लिये धनुषको हाथमें ले चुके हैं, वही कार्य प्रथम करेंगे। सुग्रीवने जो प्रार्थना की है वह इस समय न पूरी करेंगे। यद्यपि सुग्रीव अब वालीको परम हित कहता है तथापि वे अपनी प्रतिज्ञामें अटल हैं, अतएव जो वचन कहेंगे, वे इसीके अनुकूल होंगे। (पं० रा० कु०, पं०)

प० प० प्र०—मिलान कीजिये—*'निज माया बल हृदय बखानी। बोले बिहँसि राम मृदु बानी॥'* (१। ५३। ६) दोनों जगह *'बोले बिहँसि राम'* यही तीनों शब्द हैं। पर वहाँ सतीमोह प्रसङ्गमें *'मृदुबानी'* बोले और यहाँ *'धनुपानी'* (हाथमें धनुष लिये हुए) बोले। यह भेद करके जनाया कि यहाँ *'कृपा'* का (जैसा सुग्रीव चाहते हैं—*'अब प्रभु कृपा करहु·····'*) अवसर नहीं है, इस समय धनुषको हाथमें लेनेका ही कार्य करना है।

☞विहँसने, हँसने, मुसकराने आदिके भाव अनेक बार उदाहरणसमेत लिखे जा चुके हैं। *'उपजा जब ज्ञाना प्रभु मुसुकाना।'* (१। २११। छंद ३) *'मन मुसुकाहिं राम सुनि बानी।'* इत्यादि देखिये।

गौड़जी—*'सुनि बिरागसंजुत कपि बानी।'* इति सुग्रीवको कच्चा वैराग्य हो गया है, सच्चा वैराग्य नहीं है। उसका मत इतनी जल्दी बदल गया कि वह वालीके मारे जानेकी फिक्रमें अब नहीं है, क्योंकि वह समझता है कि मैं तो अब श्रीरघुनाथजीकी रक्षामें निर्भय विचरूँगा, वाली मेरा कुछ कर न सकेगा, क्योंकि श्रीरघुनाथजीकी मैत्रीकी मेरे ऊपर छत्रछाया है। वाली अब मेरा बाल भी बाँका नहीं कर सकता। यह वास्तविक वैराग्य नहीं है, बल्कि सुग्रीवके चित्तकी अव्यवस्थाका प्रमाण है। मित्रके इस कच्चे वैराग्यपर भगवान् मुसकराये। कपिकी वाणी विराग-संयुत है, उसका मन और कर्म वस्तुत: विरागसंयुत नहीं है। इसलिये आगे चलकर कहते हैं कि तुमने जो कुछ कहा है *'सोई'*—(वही, उतना ही)—सब सत्य है (अर्थात् कहनाभर सत्य है, कर्म और मन वैसा नहीं है। अभी तो तुम कहते हो कि वाली परमहित है, परंतु शरीरपर जब वज्रकी तरह घूँसा लगेगा, तब असली बातका पता लगेगा। तब यह वैराग्यसंयुत वाणी बदल जायगी और कहोगे कि *'बंधु न होइ मोर यह काला।'* परंतु, हे मित्र! मेरा वचन झूठा नहीं हो सकता। सुग्रीव आर्त्त और अर्थार्थी भक्त हैं, भगवान्से मैत्री होते ही उसकी पीड़ा मिट गयी। इसलिये वह अब भगवान्की प्रतिज्ञा भूल गया और उसे एतमीनान हो गया कि जब मैत्री हो गयी है तो मेरी तो सारी जरूरतें रफा हो गयीं। परंतु भगवान् अपने वचनको कैसे भूल सकते थे। अगर सुग्रीवमें वालीके परमहित होनेका विश्वास दृढ़ जम गया होता तो पहिले तो वह वालीके सामने आते ही उसके चरणोंपर गिर पड़ता और उसे राजी कर लेता। इसीके विपरीत पहिले ही घूँसेपर परमहितके बदले अपने कभीके स्नेही बन्धुको अपना काल समझने लगा।

भगवान्ने हँसकर सुग्रीवपर अपनी माया नहीं डाली; बल्कि उसकी विरागसंयुत खोखली बातोंपर मुसकराये और परिणामको थोड़ेसे शब्दोंमें यों कह दिया कि मेरा वचन असत्य न होगा। कच्चा वैराग्य भी भगवान्की माया है जिसमें जगत् फँसा हुआ है और आर्त्त और अर्थार्थी भक्त सुग्रीव भी मैत्री हो जानेपर भी उससे

छूटा न था। इसी मायाजालकी चर्चा आगे की गयी है कि भगवान् उसी तरह अपनी मायासे सबको नचाते हैं, जैसे मदारी बन्दरको नचाता है। यहाँ बन्दरोंके ही प्रसङ्गमें यह दृष्टान्त भी बड़ा सुसंगत और सुन्दर हुआ है।

टिप्पणी—२ ***'सत्य सब सोई'।*** यहाँ ***'सोई'*** शब्दसे नियम करते हैं कि उत्तम बात तो वही है जो तुमने कही, अर्थात् वैर छोड़कर शान्त रहना चाहिये पर मेरी जो वालिवधकी प्रतिज्ञा हो गयी है वह मिथ्या नहीं हो सकती।

वि० त्रि०—सरकार कहते हैं कि तुमने कहा सो सत्य तो वही है, ज्ञानीको कर्म त्याग करना चाहिये, यथा—***'कर्म कि होहिं सरूपहिं चीन्हें।'*** (७। ११२। ३) उसे सर्वारम्भ परित्यागी होना चाहिये, परन्तु आरब्ध कर्मका परित्याग कैसे होगा? क्योंकि इस प्रकारका त्याग भी तो कर्म ही है। मैंने तो प्रतिज्ञा कर दी है, उसे मैं मिथ्या नहीं कर सकता, मैं तो ऐसे अपराधीको बिना दण्ड दिये नहीं छोड़ सकता।

नोट—४ ***'बचन मम मृषा न होई'।*** वे वचन ये हैं—***'सब बिधि घटब काज मैं तोरे'*** और ***'मारिहौं बालिहि एकहि बान'*** इत्यादि। ये दोनों वचन प्रभु सत्य करेंगे। सुग्रीवको भक्ति भी देंगे; क्योंकि कहते हैं कि वही सत्य है। पर भजन तभी हो सकता है जब बाहरके दुष्टोंसे भी छुटकारा मिले। अतः वालिवध अवश्य करेंगे, नहीं तो जैसे रावणके कारण ऋषि तपस्या नहीं कर सकते थे, वैसे ही वालीके कारण सुग्रीवका भजन निबह जाना असम्भव था। और अन्तमें अपने साथ अपने धामको ले जायँगे, जहाँ दिन-रात दिव्य शरीरसे सेवा कर सकेंगे।

सुन्दरकाण्ड विभीषणशरणागति-प्रसङ्गमें बताया गया है कि शरणागतिके लिये चलते समय जो वासना भक्त लेकर चलता है, भगवान् उसकी उस वासनाकी भी पूर्ति अवश्य करते हैं।

श्रीविभीषणजीने स्वयं कहा है ***'उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभु पद प्रीति सरित सो बही।'*** (५। ४९। ६) ***'अब कृपाल निज भगति पावनी। देहु""।'*** वैसे ही यहाँ सुग्रीवजीने प्रथम वालीको रिपु कहा, उसके वध इत्यादिकी प्रार्थना की और प्रभुको पहचाननेपर अब ***'सब तजि भजन करौं दिन राती'*** इस वरकी प्रार्थना करते हैं। प्रभुने प्रथम दोनोंकी पूर्वकी वासनाएँ पूरी कीं। रावणका वध करके विभीषणजीको एक कल्पतक लंकाका राज्य दिया और वालीका वध करके सुग्रीवको किष्किन्धाका राज्य दिया। पर एक मार्केकी बात स्मरण रखनेकी है। वह यह कि भगवान्ने दोनों ही प्रसङ्गोंमें यह नहीं कहा कि तुम्हारी वासनाकी मैं पूर्ति करता हूँ। जैसे विभीषणजीसे कहा है कि ***'जदपि सखा तव इच्छा नाहीं'*** वैसे ही यहाँ सुग्रीवजीसे कहते हैं कि ***'जो कछु कहेहु सत्य सब सोई';*** इस प्रकार दोनोंकी भक्तिकी प्रशंसा करते हुए उनकी वासनाएँ पूर्ण कीं। विभीषणजीसे तो यह कहा कि हम तुम्हें अपने दर्शनका यह फल देते हैं, ***'मम दरसन अमोघ जग माहीं।'*** और सुग्रीवजीसे कहा कि ***'सखा बचन मम मृषा न होई।'*** कितना दयालु स्वभाव है!!

नट मरकट* इव सबहि नचावत। रामु खगेस बेद अस गावत॥ २४॥
लै सुग्रीव संग रघुनाथा। चले चाप सायक गहि हाथा॥ २५॥

अर्थ—(भुशुण्डिजी कहते हैं) हे खगेश! वेद ऐसा कहते हैं कि श्रीरामजी नट-मर्कटकी तरह (अर्थात् जैसे मदारी बन्दरको नचाता है वैसे ही) सभीको नचाते हैं॥ २४॥ तदनन्तर सुग्रीवजीको साथ लेकर और हाथोंमें धनुष-बाण धारण करके श्रीरघुनाथजी चले॥ २५॥

टिप्पणी—१ ***'नट मर्कट इव'।*** जब श्रीरामजीने सुग्रीवको उत्तर दिया कि ***'सखा बचन मम मृषा न होई',*** तब सुग्रीवने श्रीरामजीकी इच्छाके अनुकूल ही काम किया अर्थात् वालीसे लड़नेके लिये तुरंत किष्किन्धाके उपवनमें गये। इसीपर भुशुण्डिजी गरुड़जीसे कहते हैं कि सुग्रीव ही क्या, सारा संसार श्रीरामजीकी इच्छाके अनुसार काम करता है।

---

* मर्कट—(का०)

नोट—१ जैसे मदारी बन्दरको जैसा चाहे नाच नचाता है वैसे ही श्रीरामजी जीवोंको जैसा चाहते हैं, नचाते हैं, जैसा कार्य उनसे चाहते हैं करा लेते हैं। जैसे वानर नटके अधीन, वैसे ही जीव ईश्वरके अधीन है। ईश्वर स्वतंत्र है, जीव परतन्त्र। जीवका कुछ वश नहीं, उसे विवश होकर सब करना पड़ता है। यह नटमर्कटके दृष्टान्तका भाव है। मिलान कीजिये—*'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई॥'* (१।१२८।१), *'होइहि सोइ जो राम रचि राखा।'* (१।५२।७) *'राम रजाइ सीस सबही के।'* (२। २५४।८), *'उर प्रेरक रघुबंस बिभूषन। कृपा सिंधु मुनि मति करि भोरी। लीन्ही प्रेमपरिच्छा मोरी॥'* (७।११३), *'उमा दारु जोषित की नाईं। सबहिं नचावत राम गोसाईं',* इत्यादि। विशेष देखिये (११।७) गीतामें भी कहा है **'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥'** (१८।६१) अर्थात् हे अर्जुन! ईश्वर सभी जीवोंके हृदयरूपी देशमें स्थित है और मायारूपी यन्त्रपर चढ़े हुए सब प्राणियोंको घुमाता है। २—नट शब्द प्रथम देकर नटकी प्रधानता कही, वैसे ही यहाँ श्रीरामजी प्रधान हैं। ३—यहाँ *'नचावत'* के साथ *'राम'* पद सार्थक है। **रमु क्रीडायाम्।** अर्थात् वे राम हैं, अतएव क्रीड़ा करना उनका यथार्थ ही है; वही वे कर रहे हैं। नचाना क्रीड़ा है। (पं० रा० कु०)

वि० त्रि०—जिस बातको अर्जुन बड़ी कठिनतासे समझ पाये; उसे सुग्रीवने तुरंत समझ लिया। इसपर कवि कहते हैं कि इसमें सुग्रीवकी बुद्धिकी कुशाग्रताकी प्रशंसा नहीं है, कपिके नृत्यमें उसके नृत्यकौशलकी प्रशंसा नहीं है, उसकी गति नटके अधीन है। यथा—*'कपि नाचत सुक पाठ प्रबीना। गति मति नट पाठक आधीना॥'* प्रभुकी प्रेरणा ही ऐसी थी कि बात तुरंत सुग्रीवके समझमें आ गयी। **'ईश्वरः सर्वभूतानां'''**। सरकार उठ पड़े, सुग्रीव साथ चले।

टिप्पणी—२ *'लै सुग्रीव संग'* इससे रघुनाथजीकी प्रधानता पायी गयी कि वालीके मारनेमें उनका मुख्य प्रयोजन है; उनको अपना वचन सत्य करना है। यदि चलनेमें रघुनाथजीकी प्रधानता न होती तो ऐसा कहते कि रघुनाथजीको संग लेकर सुग्रीव चले।

गौड़जी—यहाँ इस चरितसे यह भी दरसाया कि मित्रके कामके लिये स्वयं अगुवा होकर चलना चाहिये। मित्रके तकाजेकी इन्तजारी करना सन्मित्रका काम नहीं है। उसका काम तो अपने कामसे बढ़कर और ज्यादा जरूरी समझना चाहिये। मर्यादापुरुषोत्तम हैं। **'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥'** अपने प्रत्येक चरितसे आचरणका उपदेश देते हैं।

पं०—(१) *'रघुनाथा'* का भाव कि रघुवंशीमात्र शरणपाल और सत्यसन्ध होते हैं—*'प्रान जाहु बरु बचन न जाहीं'*—और ये तो रघुवंशियोंके नाथ हैं, तब इनका साथ जाकर शरणागतकी रक्षा करना उचित ही है। (२) यहाँ लक्ष्मणजीको साथ लेना न कहा क्योंकि एक बाणसे मारनेकी प्रतिज्ञा है। वही बाण और धनुष लेकर चले।

मा० त० प्र०—प्रायः तरकस कसकर जहाँ-तहाँ लड़ाईमें जाना कहा गया है पर यहाँ तरकसका लेना नहीं कहा गया। कारण यह कि जिस बाणसे मारना है वही हाथमें ले लिया है, शेष शस्त्र लक्ष्मणजीके पास रहे।

नोट—२ खर-दूषण-प्रसंगमें *'कटि कसि निषंग बिसाल भुज गहि चाप बिसिष सुधारि कै।'* (३। १८) और *'कटि पट पीत कसे बर भाथा। रुचिर चाप सायक दुहु हाथा॥'* (१। २०९। ५२) (विश्वामित्रके साथ ताड़कावध-प्रसंगमें) तरकस है। पर मारीचवध-प्रसंगमें भी तरकसका बाँधना नहीं कहा है, यथा—*'मृग बिलोकि कटि परिकर बाँधा। करतल चाप रुचिर सर साँधा॥'* इसके सम्बन्धमें मा० त० प्र० कार सम्भवतः यह उत्तर देते हैं कि यहाँ आखेट है संग्राम नहीं, इससे यह प्रमाण नहीं माना जा सकता। दूसरे, *'कटि परिकर बाँधा'* से कटिमें तरकशका बाँधना ले सकते हैं। तीसरे वहाँ भी एक ही बाणसे काम लिया है इससे वहाँ भी तरकश न लिया। यथा—*'तब तकि राम कठिन सर मारा।'* वही कठिन शर हाथमें लेकर पीछा किया। और भी प्रसंग मिलते हैं जहाँ तरकशका कसना नहीं कहा है। जैसे—*'लछिमन चले क्रुद्ध होइ बान सरासन हाथ।'* (६।५१) यहाँ भी मेघनादसे लड़नेको जाते समय केवल बाण और धनुष हाथमें लिये जाना कहते हैं, यद्यपि यहाँ बारम्बार बाणोंका प्रहार किया गया है—*'नाना बिधि प्रहार कर सेषा।'''*।

हाँ, दूसरी बार जब मेघनादसे युद्ध करने गये तब *'कटि निषंग कसि साजि सरासन।'* (६। ७४। ११) पद दिया है। इससे यह भी कहा जा सकता है कि *'तरकश'* भी साथ रहना सम्भव है; क्योंकि वालिवधपर भी *'सर चाप चढ़ाये'* वालीके पास प्रभु गये हैं; यह दूसरा शर कहाँसे आया?

तब रघुपति सुग्रीव पठावा। गर्जेसि जाइ निकट बल पावा॥ २६॥
सुनत बालि क्रोधातुर धावा। गहि कर चरन नारि समुझावा॥ २७॥

अर्थ—तब श्रीरघुनाथजीने सुग्रीवको वालीके निकट भेजा। वह श्रीरामजीका बल पाकर वालिके पास जाकर गर्जा॥ २६॥ वाली सुनते ही क्रोधमें भरकर तुरंत दौड़ा। उसकी स्त्री (तारा) ने हाथसे चरण पकड़कर समझाया॥ २७॥

वि० त्रि०—*'तब रघुपति सुग्रीव'''* इति। **'असाधना वित्तहीना बुद्धिमन्तः सुहृत्तमाः। साधयन्त्याशु कार्याणि॥'** 'साधन-विहीन', धनविहीन, परंतु बुद्धिमान् सच्चे मित्र कार्यका साधन कर ही डालते हैं' ऐसा नीतिशास्त्रने कहा है। कहना नहीं होगा कि इस परिस्थितिमें सरकार तथा सुग्रीव दोनों ही साधन-विहीन तथा वित्त-विहीन हैं, और कार्य इतना कठिन है कि अपने नगर तथा दुर्गमें बैठे हुए वाली-ऐसे योद्धाको दण्ड देना तथा किष्किन्धाका राज्य, ज्यों-का-त्यों तथा उनकी स्त्री रुमाको सुग्रीवके हस्तगत करा देना है।

सीधे-सीधे संग्राम प्रारम्भ कर देनेसे, सुग्रीवको उजड़ी हुई किष्किन्धा मिलेगी, बड़े-बड़े वानर-वीर मारे जायँगे, जिनसे बहुत कुछ काम लेना है। पिताके वचनसे नगरमें सरकारका पदार्पण हो नहीं सकता। वाली यदि किष्किन्धाके बाहर आवे तभी दण्डपात् सम्भव है, अतः सुग्रीवको भेजा कि वह जाकर ललकारे। जिसका पीछा करता हुआ वाली सम्पूर्ण भुवनमें फिरा, और जिसे मारनेके लिये वह सदा सचेष्ट रहता है, उसे हाथमें आया हुआ जानकर वह तुरंत स्वयं पुरके बाहर चला आवेगा।

टिप्पणी—१ *'तब रघुपति सुग्रीव पठावा।'''* इति। (क) *'तब'* अर्थात् जब पहाड़से उतरकर किष्किन्धाके पास आये तब। [श्रीमहाराजजी साथ क्यों न गये? यदि साथ जाते तो सम्भव था कि वालीके अतिरिक्त अन्य योद्धा भी उसके साथ जाते। ऐसा होनेमें रामजीके लिये कोई कठिनता न होती। परन्तु सुग्रीव ऐसे युद्धमें युद्धप्रवर्तक न समझे जाते। महाराजके साथ न जानेसे सुग्रीवका प्रभाव लोगोंपर पड़ा कि उसने स्वेच्छासे वालीको घेरकर युद्ध माँगा। ऐसा करनेसे सुग्रीव योद्धाओंके बीच आदरदृष्टिसे देखे गये। (पं० शिवरत्न शुक्ल)] (ख) *'गर्जेसि जाइ निकट'* इति। निकट जाकर तब गर्जा, क्योंकि किष्किन्धा नगर भारी है, दूरसे वालीतक शब्द न पहुँचता, पाससे गर्जन करनेसे शब्द वालीके महलतक पहुँचेगा और वह सुनकर लड़नेके लिये सुग्रीवके पास आवेगा। (ग) *'बल पावा'* से सूचित करते हैं कि इस लड़ाईमें वाली सुग्रीवको मारेगा, क्योंकि सुग्रीवने रामजीसे बल पाया है और वालीमें महाबल है, यथा—*'बालि महाबल अति रनधीरा।'* दूसरी लड़ाईमें सुग्रीवको विशाल बल देंगे तब नाना विधिकी लड़ाई होगी, यथा—*'पुनि पठवा बल देइ बिसाला'* और *'पुनि नाना बिधि भई लराई।'*

मा० त० प्र०—*'बल पावा'* अर्थात् वचन-बल पाकर, यथा—*'मारिहौं बालिहिं एकहि बान'* और *'सखा बचन मम मृषा न होई'*; वा प्रभुके निकट होनेका बल पाकर। सुग्रीवने इतनी दूरपर जाकर पुकारा कि जहाँसे प्रभु निकट ही हों।

टिप्पणी—२ (क) *'सुनत बालि धावा'* क्योंकि वह शत्रुके बलको नहीं सह सकता, यथा—*'बाली रिपुबल सहै न पारा'*, अतएव सुग्रीवकी ललकार सुनकर दौड़ा। (ख) *'क्रोधातुर'* है। क्रोधमें समझ नहीं रहती, इसीसे स्त्री समझाने लगी।*

* मा० त० प्र०—'गहि कर चरन' का भाव कि—(क) पहले 'कर' (हाथ) पकड़कर समझाया, न माना तब चरण पकड़कर समझाया। स्त्रियोंका हाथपकड़कर समझाया स्वभावसिद्ध है, यथा—'कर गहि पतिहि भवन निज आनी। बोली परम मनोहर बानी॥' (६।६।३) वा, (ख) हाथ पकड़कर समझानेमें यह भाव है कि वाली क्रोधान्ध है और अन्धेको हाथ पकड़कर समझाना होता है। वा, (ग) हाथ पकड़ा कि वह खड़ा हो जाय तब मैं समझाऊँ।

[ताराने पूर्व ही क्यों न वालीसे यह कह दिया? अनुमानसे मालूम होता है कि वह वाली और सुग्रीवके बीचमें युद्ध नहीं चाहती थी। जब उसने देखा कि अब ये युद्ध करने ही जाता है तब मैत्रीका समाचार दिया और अवतार और बल भी बताया। पुन: अनुमान होता है कि जिन लोगोंने मित्रताका हाल जाना था, उन्होंने वालीके उग्र प्रतापके भीतर ही अपनी बुद्धिको रखा और इस विचारको ध्यानमें न लानेकी भूल की कि ऐसे दैवी-विभूति-सम्पन्न व्यक्तिके साथ नरबलसम्पन्न वाली कैसे विजय पा सकता है। दूसरी ओर यह अनुमान हो सकता है कि वाली इस विचारका वीर था कि वह शत्रुके भावों और चालोंका पता लगाना और छलसे शत्रुको पराजय करना तुच्छ बलवानोंका काम समझता था। इसीलिये वह सुग्रीवके मित्र-शत्रुकी ओर कम ध्यान देता था। तारा वालीके स्वभावसे परिचित थी। उसने सुग्रीवके भेदभावोंको प्रकट करना निरर्थक समझा; क्योंकि वाली उसपर किञ्चित् ध्यान न देता। तो भी जब जान लिया कि यह होनेको ही है तब सब वृत्तान्त कह दिया। (शि० र० शु०)]

नोट—१ यहाँ ताराका प्रथम ही बार समझाना कहते हैं और वाल्मीकीयमें दूसरी बार युद्धके लिये जाते समय समझाना लिखा है। ताराको कैसे मालूम हुआ यह स० १५ में दिया है। वह कहती है कि 'जिस कारण मैं तुम्हें रोकती हूँ वह सुनो।···अहंकार, उसका घोर युद्धके लिये उद्योग और उसके गर्जनमें भयानकता इन सबका कोई बड़ा कारण अवश्य है। बिना किसीकी सहायताके वह यहाँ आकर न गरजता। वह स्वभावसे ही निपुण और बुद्धिमान् है, बिना बलकी परीक्षा लिये उसने किसीसे मित्रता न की होगी। कुमार अङ्गदसे मैंने पहले ही यह बात सुनी है। वह एक दिन वनमें गया था। वहीं दूतोंने उससे यह बात कही थी। अयोध्यापतिके दो पुत्र जो दुर्जय हैं, वे सुग्रीवका हित करने वनमें आये हैं, वे ही राम-लक्ष्मण सुग्रीवके सहायक हैं। रामचन्द्र शत्रुसेनाके विनाशमें प्रलयाग्निके समान हैं, संतों और आर्त वा शरणागतके आश्रय स्थान हैं, अजेय हैं इत्यादि,—(श्लोक ९ से २२ तक)।'

नोट—२ किसी-किसीका मत है कि तारा पञ्चकन्यामेंसे एक है अत: उसे दिव्य ज्ञान है इससे वह जान गयी।

सुनु पति जिन्हहि मिलेउ सुग्रीवाँ। ते दोउ* बंधु तेज बल सीवाँ॥ २८॥
कोसलेस सुत लछिमन रामा। कालहु जीति सकहिं संग्रामा॥ २९॥

अर्थ—हे पति! सुनिये, जिनसे सुग्रीव मिले हैं (मित्रता की है) वे दोनों भाई तेज और बलकी सीमा हैं। अर्थात् परम तेजस्वी और बलिष्ठ हैं॥ २८॥ वे कोसलपति दशरथजीके पुत्र राम और लक्ष्मण हैं, जो संग्राममें कालको भी जीत सकते हैं॥ २९॥

टिप्पणी—१ (क) *'सुनु पति'।* आप मेरे पति अर्थात् रक्षक हैं—*'पा' 'रक्षणे', 'पा'* धातु रक्षाके अर्थमें है। तात्पर्य कि सुग्रीवसे वैर छोड़कर मेरी और अंगदकी, राज्यकी और कुलकी इत्यादि, सबकी रक्षा कीजिये। **'पाहि मामङ्गदं राज्यं कुलं च हरिपुङ्गव'** अर्थात् हे वानरश्रेष्ठ! मेरी, अङ्गदकी, राज्यकी और कुलकी रक्षा कीजिये। (अध्यात्म० ४। २। ३२) यह भी कहा है कि सुग्रीवसे वैर छोड़कर उसे युवराज बनाइये और श्रीरामजीकी शरण जाइये। **'अतस्त्वं सर्वथा वैरं त्यक्त्वा सुग्रीवमानय। यौवराज्येऽभिषिञ्चाशु रामं त्वं शरणं व्रज॥'** (३१) (ख) *'तेज बल सीवाँ'* इति। तेजकी सीमा अर्थात् तेजस्वी कहकर जनाया कि तेजस्वीको लघु न गिनना चाहिये, यथा—*'तेजवंत लघु गनिय न रानी।'* तात्पर्य कि ये देखनेहीमें छोटे हैं; परंतु उन्हें छोटा न जानो। जहाँ तेज है वहाँ बल है; अत: बलके सीवँ है। यथा—*'सुचि सुजान नृप कहहिं हमहिं अस सूझइ। तेज प्रताप रूप जहँ तहँ बल बूझइ॥'* (जानकीमंगल। ३६)

टिप्पणी—२ (क) *'कोसलेस सुत'* से सूचित किया कि श्रीराम-लक्ष्मण साक्षात् भगवान्के अवतार हैं। कोसलेशके यहाँ भगवान्ने अवतार लेनेको कहा है, यथा—*'ते दसरथ कौसल्यारूपा। कोसलपुरी प्रगट*

* दोउ—(का०), द्वौ—(भा० दा०)।

नरभूपा। तिन्ह के गृह अवतरिहौं जाई। रघुकुलतिलक सो चारिउ भाई॥' (१। १८७) (ख) यहाँ प्रथम लक्ष्मणजीका नाम दिया तब रामजीका। मुख्य कारण छन्दकी सुगमता है। पुनः, संग्राममें आगे सेवक चाहिये पीछे स्वामी; इसीसे (*'कालहु जीति सकहिं संग्रामा'* कहनेमें) पहले लक्ष्मणजीका नाम कहते हैं। (ग) *'कालहु जीति''''* इति। *'कालहु'* कहकर कालकी बड़ाई करती है कि काल सबको जीतता है और उस कालको ये दोनों जीत सकते हैं, यथा—*'भुवनेस्वर कालहु कर काला', 'तुम्ह कृतांत भच्छक सुरत्राता।'* *'संग्रामा'* का भाव कि योगी योगसे कालको जीतते हैं, राम-लक्ष्मण संग्राममें उसे जीत सकते हैं; तब तुम उनके सामने क्या हो?

नोट—१ वाल्मी० ४। १५ में जो '**अयोध्याधिपतेः पुत्रौ शूरौ समरदुर्जयौ। ''''रामः परबलामर्दी युगान्ताग्निरिवोत्थितः।**' (१७, १९), यह कहा है, वही यहाँ *'तेज बल सीवाँ'* और *'कालहु जीति सकहिं संग्रामा'* से कहा है।' श्रीरामजीने परशुरामजीसे कहा ही है—*'जौं रन हमहिं पचारै कोऊ। लरहिं सुखेन काल किन होऊ॥''''कहौं सुभाउ न कुलहि प्रसंसी। कालहु डरहिं न रन रघुबंसी॥'* (१।२८४) और आगे भी कहा है—*'एक बार कैसेहुँ सुधि जानौं। कालहु जीति निमिष महँ आनौं॥'* (१८।२), '**क्षमो हि ते कोशलराजसूनुना न विग्रहः शक्रसमानतेजसा।**' (४।१५।३०)

दो०—कह बाली सुनु भीरु प्रिय समदरसी रघुनाथ।
जौं कदाचि मोहि मारहिं* तौ पुनि होउँ सनाथ॥७॥

अर्थ—वालीने कहा—हे भयशीले (स्वभावसे डरपोक)! हे प्रिये! सुनो, श्रीरघुनाथजी समदर्शी हैं। जो कदाचित् वे मुझे मारेंगे तो मैं सनाथ हो जाऊँगा॥७॥†

नोट—१ मिलान कीजिये—'**तामालिङ्ग्य तदा वाली सस्नेहमिदमब्रवीत्।**' (अ० रा० २। ३३) '**स्त्रीस्वभावाद्बिभेषि त्वं प्रिये नास्ति भयं मम।''''**'(३४) '**रामो नारायणः साक्षादवतीर्णोऽखिलप्रभुः।**' (३५) '**भूभारहरणार्थाय श्रुतं पूर्वं मयानघे। स्वपक्षः परपक्षो वा नास्ति तस्य परात्मनः॥**' (३६) '**तस्माच्छोकं परित्यज्य तिष्ठ सुन्दरि वेश्मनि।**' (४०) अर्थात् तब वालीने उसका प्रेमपूर्वक आलिंगनकर यह कहा—प्रिये! तुम अपने स्त्री-स्वभावके कारण डरती हो, मुझे तो किंचित् भी भय नहीं है। राम तो सबके स्वामी साक्षात् नारायण हैं जिन्होंने भूभारहरणके लिये अवतार लिया है, यह मैं पूर्व ही सुन चुका हूँ। वे परमात्मा हैं। उनका कोई अपना वा पराया पक्ष नहीं है। अतएव, हे सुन्दरि! तुम शोक छोड़कर निश्चिन्त होकर घर बैठो—यह सब दोहेके पूर्वार्धसे यहाँ कविने कह दिया है। *'भीरु'* में '**स्त्रीस्वभावाद् बिभेषि 'त्वम्'** तथा '**नास्ति भयं मम**' का सब भाव आ गया। *'प्रिय'* सम्बोधन दोनोंमें है। साथ ही इन दोनों विशेषणोंको देकर यह भी जना दिया कि डरी हुई देखकर '**तामालिङ्ग्य**' उसको हृदयसे लगा लिया और प्यार करके *'प्रिय'* स्नेहमय सम्बोधन देकर उससे बोला। *'समदरसी'* और *'रघुनाथ'* इन दो शब्दोंसे '**रामो नारायणः**' से '**परात्मनः**' तकका सब अर्थ कह दिया गया। *'रघुनाथ'* शब्दसे जनाया कि उन्होंने ब्रह्मादिकी प्रार्थनापर रघुकुलमें भूभारहरणार्थ अवतार लेनेको कहा था। यथा—*'तिन्ह के गृह अवतरिहौं जाई। रघुकुल तिलक सो चारिउ भाई॥ हरिहौं सकल भूमि गरुआई।'* (१। १८७) वे समदर्शी हैं यथा—*'अखिल बिस्व यह मोर उपाया। सब पर मोहि बराबरि दाया॥'* (७।८७।७), *'सब मम प्रिय सब मम उपजाए।'* (७।८६) इसको अ० रा० में '**स्वपक्षः परपक्षो वा नास्ति तस्य**' कहा है। दोहेके उत्तरार्धका जोड़ अ० रा० में नहीं है।

---

* भा० दा० और का० का यही पाठ है। 'मारिहैं तौ पुनि होब' पाठान्तर है।

† दीनजी 'तौ पुनि होब सनाथ' का अर्थ करते हैं कि 'तो तू पुनः पतियुक्त हो जायगी। अर्थात् तुझे तो यही डर है कि यदि मैं मारा गया तो तू विधवा हो जायगी; पर तू पञ्चकन्यामेंसे है अतएव मेरे मर जानेपर भी तू विवाह करके सधवा ही रहेगी। तू शोक मत कर।' और कहते हैं कि यदि ऐसा अर्थ न करें तो 'पुनि' शब्द व्यर्थ हो जाता है। नोट—पूर्व बताया जा चुका है कि बुंदेलखण्डमें 'पुनि' शब्द साधारण ही बिना अर्थके बोला जाता है। तौ पुनि=तौ, यथा—'मैं पुनि पुत्र बधू प्रिय पाई।'

'जौं कदाचि' में भाव यह है कि 'वे धर्मज्ञ हैं, कृतज्ञ हैं, क्योंकि रघुनाथ हैं, रघुकुलके सभी राजकुमार धर्मात्मा होते हैं, मैंने उनका कोई अपकार नहीं किया, अतः वे मुझे मारनेका पाप क्यों करेंगे? यथा—'**धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च कथं पापं करिष्यति।**' वाल्मी० (४। १६। ५) पुनः समदर्शी हैं, उनके लिये जैसे सुग्रीव वैसा ही मैं, अतः वे मुझे क्यों मारने लगे? पुनः *'जौं कदाचि'* में अ० रा० के वालीके ये भी भाव आ जाते हैं कि यदि वे सुग्रीवके साथ आये होंगे तो मेरा उनमें प्रेम हो जायगा, मैं उनको प्रणाम करके घर ले आऊँगा। यथा—'**रामो यदि समायातो लक्ष्मणेन समं प्रभुः।**' (२। ३४) '**तदा रामेण मे स्नेहो भविष्यति न संशयः।**····' (३५) '**आनेष्यामि गृहं साध्वि नत्वा तच्चरणाम्बुजम्।**' (३७) तब वे मुझे क्यों मारेंगे?

'तौ पुनि होउँ सनाथ' इति। इस वचनसे सिद्ध होता है कि वह जानता है कि इनके हाथसे मारे जानेपर सद्‌गति प्राप्त होती है, अथवा मेरी मृत्यु इनके हाथ होगी और मैं परमपदको प्राप्त हूँगा। यह बात वालीके '**शक्यं दिवं चार्जयितुं वसुधां चापि शासितुम्। त्वत्तोऽहं वधमाकाङ्क्षन्वार्यमाणोऽपि तारया॥**' (वाल्मी० ४। १८। ५७) '**सुग्रीवेण सह भ्रात्रा द्वन्द्वयुद्धमुपागतः।**' (५८) (अर्थात् आपकी अनुकूलतासे स्वर्ग और पृथ्वीका राज्य प्राप्त हो सकता है। आपके द्वारा अपने वधकी इच्छासे ही ताराद्वारा रोके जानेपर भी मैं सुग्रीवसे युद्ध करनेके लिये आया), इन वचनोंमें ध्वनित है और उसका मनोरथ सफल भी हुआ। यथा—*'राम बालि निज धाम पठावा।'* (४।११।१)

टिप्पणी—१ ताराके हृदयमें डर है, इसीसे उसे *'भीरु'* कहा। और, उसकी खातिरी प्रसन्नता और आश्वासनके लिये *'प्रिय'* सम्बोधन किया।

टिप्पणी—२ *'जौं कदाचि'* का भाव कि प्रथम तो वे मुझे मारेंगे ही नहीं और यदि कदाचित् वे मारें, क्योंकि वे अपने भक्तोंके वास्ते विषमदर्शी भी हो जाते हैं, यथा—*'जद्यपि सम नहिं राग न रोषू। गहहिं न पाप पूनु गुन दोषू॥ तदपि करहिं सम बिषम बिहारा। भगत अभगत हृदय अनुसारा॥'* (२। २१९। ३—५) तो मैं कृतार्थ हो जाऊँगा।

नोट—२ *'तौ पुनि होउँ सनाथ'* अर्थात् कपियोनिसे छूटकर परमगतिको पाऊँगा।

नोट—३ ताराने समझाया पर इसने न माना; क्योंकि एक तो वह क्रोधावेशमें है, दूसरे उसे बलका गर्व है—*'क्रोधिहि सम कामिहि हरि कथा। ऊसर बीज बये फल जथा॥' 'अस कहि चला महा अभिमानी।'* अभिमान है, अतः मृत्यु निकट जान पड़ती है।

नोट—४ जैसे यहाँ महा अभिमानी वालीने स्त्रीके उपदेशपर उसे *'भीरु प्रिय'* कहा है वैसे ही *'जगत बिदित अभिमानी'* रावणने मन्दोदरीके हित-वचन सुनकर उससे कहा है *'सभय सुभाउ नारि कर साचा। मंगल महुँ भय मन अति काचा॥ कंपहि लोकप जाकी त्रासा। तासु नारि सभीत बड़ि हासा॥'* और *'अस कहि बिहसि ताहि उर लाई।'* (५।३७) दूसरी बार समझानेपर भी जब रावणने न माना तब मन्दोदरीके विचार कविने इस प्रकार दिये हैं—*'मंदोदरी हृदय अस जाना। काल बस्य उपजा अभिमाना॥'* (६।८।६) अर्थात् अभिमान उत्पन्न होनेसे ज्ञात होता है कि काल आ गया। वाल्मीकिजी भी लिखते हैं—'**तदा हि तारा हितमेव वाक्यं तं वालिनं पथ्यमिदं बभाषे। न रोचते तद्वचनं हि तस्य कालाभिपन्नस्य विनाशकाले॥**' (४।१५।३१) अर्थात् ताराने ये हितकारी वचन वालीसे कहे, पर उसे वे अच्छे न लगे। क्योंकि उसका विनाशकाल उपस्थित था। उसपर मृत्युकी छाया पड़ चुकी थी—यह भाव आगे *'अस कहि चला महा अभिमानी'* कहकर कविने यहाँ हित-वचन न माननेपर जना दिये। प्रहस्तने रावणसे यही कहा है। यथा—*'हित मत तोहि न लागत कैसे। काल बिबस कहँ भेषज जैसे॥'* (६। १०। ५)

शि० र० शु०— जिन जीवोंमें किसी कारणवश किसी अलौकिक शक्तिका प्रादुर्भाव होता है तो उनमें ऐसी आश्चर्यमयी शक्ति, बुद्धि अथवा विद्याकी पूर्ण सिद्धता होती है कि उनके सम्मुख संसारमण्डलमें कोई खड़ा नहीं हो सकता; जितनी बलशक्ति संसारमें रहती है वह अधिकांशरूपमें उस व्यक्ति-विशेषमें एकत्र हो जाती है। जैसे न बहनेवाले पानीमें काई और मलिनता उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार सकल संसारमें

घूमनेवाली शक्ति किसी एक विशेष शरीरमें स्थित हो जाती है तो स्थान-विशेष उसमें भी विकार उत्पन्न कर देता है, जिससे संसारके कामोंमें अड़चन पड़ने लगती है, तब इसकी आवश्यकता होती है कि वह एकत्रित शक्ति पूर्वकी भाँति छितर जावे।····सम्भव है कि वालीकी अति बलवत्ताने संसारके नियमोंमें विघ्न पहुँचाया हो, इसलिये वालीकी उस एकत्रित शक्तिको, जिसे सारे संसारमें कार्य करना चाहिये, छितरा देना अनिवार्य था। अस्तु, जगत्पतिने ऐसा करना उस समय उचित समझा था। जब किसीमें बलकी शक्ति **'अमितता'** के निकट पहुँचती है तब उसी रूपसे गर्व, मदान्धता, अनुचित क्रोध तथा अनुचित विलासपन आ जाता है। संसारमें मनुष्य शरीरबलके अधीन रखे जाते हैं। वाली ऐसे बलवान्‌के अवलम्बित मार्गपर आगे चलकर जनता चलनेको बद्ध थी। जब ऐसा होता तब काम-क्रोधादिकी इतनी विशेषता हो जाती कि शान्ति, शम, मर्यादा आदि उत्तम गुणोंका नामतक न रह जाता, और ऐसा होनेसे संसार अस्तव्यस्तताको प्राप्त होता। अतः जब ऐसे अलौकिक व्यक्तिविशेषसे अलौकिक एकत्रित शक्ति सम्पूर्ण जगत्‌में छितरानेके लिये निकाली जाती है, तब उसीके साथ बुराइयाँ भी, जो अपनी उच्चताको पहुँच चुकी हैं, साथ ही घसीट ली जाती हैं। जब उस व्यक्तिसे बुराइयाँ भी अलग हो गयीं तब वह निर्मल हो जाता है। अस्तु, इसी आधारपर वाली कहता है कि यदि मुझे वे मार डालेंगे तो मैं निर्मल होकर उनके समान हो जाऊँगा। वालीने श्रीरामचन्द्रको नीच तथा शत्रुदृष्टिसे न देख बहुत बड़ी ऊँची और पूज्य दृष्टिसे देखा था।—नोट—सहस्रार्जुनका उदाहरण इस विषयमें लिया जा सकता है।

अस कहि चला महा अभिमानी। तृन समान सुग्रीवहि जानी॥ १॥
भिरे उभौ बाली अति तर्जा। मुठिका मारि महाधुनि गर्जा॥ २॥

अर्थ—महा अभिमानी वाली ऐसा कहकर और सुग्रीवको तिनकेके समान समझकर चला॥ १॥ दोनों भिड़ गये (लड़ गये)। वालीने बहुत डाँट-डपट और तिरस्कार करते हुए सुग्रीवको धमकाया और घूँसा मारकर बड़े जोरसे गरजा॥ २॥

वि० त्रि०—अभिमानी नीति-पालनमें सर्वथा असमर्थ होते हैं। वालीको समझना था कि सुग्रीवको इतना साहस कैसे हुआ कि स्वयं आकर गर्जन कर रहा है। तारा समझती है कि ***'सुनु पति जिन्हहिं मिलेउ सुग्रीवा। ते दोउ बंधु तेज बल सींवा॥ कोसलेस सुत लछिमन रामा। कालहु जीत सकहिं संग्रामा॥'*** इसपर कहता है कि मारेंगे तो मर जाऊँगा, पर सुग्रीवको तो ले बढ़ूँगा। सरकारपर विश्वास रखते हुए भी, उनके आश्रितको, उनकी आँखोंके सामने मार डालनेका दुःसाहस महा अभिमान है।

'रिपु रुज पावक पाप प्रभु अहि गनिअ न छोट करि' यह नीति है। सरकारके भुजबलसे रक्षित शत्रुको तृण समझना, नीतिकी बड़ी भारी अवहेलना है।

टिप्पणी—१ (क) ***'अस कहि चला'*** इति। तात्पर्य कि वालीको मृत्यु अङ्गीकार है, पर शत्रुकी ललकार अङ्गीकार नहीं है। पहले कहा है कि ***'सुनत बालि क्रोधातुर धावा'*** और यहाँ कहते हैं कि ***'अस कहि चला'।*** अब ***'चला'*** कहनेका भाव यह है कि पहले जब क्रोधसे दौड़ा था तब ताराने चरण पकड़कर विनती की। स्त्रीके समझानेसे क्रोधका वेग निकल गया अतएव अब दौड़ा नहीं, वरन् चला। वैसा ही कविने लिखा। (ख)—***'महा अभिमानी'*** का सम्बन्ध पूर्व और पर दोनों चौपाइयोंसे है। पूर्व नारीका सिखावन है, उसे उसने नहीं माना, इसीसे कहा कि वह महा अभिमानी है—यही बात श्रीरामजी वालीसे आगे कहेंगे, यथा—***'मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करसि न काना॥'*** पुनः, इस चौपाईमें कहते हैं कि उसने सुग्रीवको तृण-समान जाना, इसीसे कहा है कि वह महा अभिमानी है—इस बातको भी श्रीरामजी आगे कहेंगे, यथा—***'मम भुजबल आश्रित तेहि जानी। मारा चहसि अधम अभिमानी॥'*** तृण-समान जानकर चलनेसे ***'अभिमानी'*** और रामाश्रित सुग्रीवको तृण-समान माननेसे ***'महा अभिमानी'*** कहा। (मा० म०, प्र०)

टिप्पणी—२ (क) ***'भिरे उभौ'*** का भाव कि श्रीरामजीके बलसे सुग्रीवने वालीका भय नहीं माना।

(जैसे विभीषणजी श्रीरामजीका बल पाकर रावणसे लड़े थे, यथा—*'उमा बिभीषन रावनहिं सनमुख चितव कि काउ। सोअब भिरत काल ज्यों श्रीरघुबीर प्रभाउ॥'* (६। ९४); नहीं तो कहाँ सुग्रीव कहाँ वाली, कहाँ विभीषण और कहाँ रावण।) वाली लड़ा, सुग्रीव भी लड़ा, सुग्रीव तर्जा वाली अति तर्जा। सुग्रीव गर्जा था, यथा—*'गर्जेसि जाइ निकट बल पावा',* वाली महाध्वनिसे गर्जा। वाली सुग्रीवको मारकर गर्जा—यह वालीकी जीत हुई, जैसे हनुमान्‌जी अक्षयकुमारको मारकर गर्जे थे, यथा—*'आवत देखि बिटप गहि तर्जा। ताहि निपाति महाधुनि गर्जा।'* *

तब सुग्रीव बिकल होइ भागा। मुष्टि प्रहार बज्र सम लागा॥ ३॥
मैं जो कहा रघुबीर कृपाला। बंधु न होइ मोर यह काला॥ ४॥

अर्थ—तब सुग्रीव व्याकुल होकर भागे। घूँसेकी चोट उन्हें वज्रके समान लगी। (वे आकर श्रीरघुनाथजीसे बोले—) हे कृपालु! हे रघुवीर! मैंने जो आपसे कहा था कि यह मेरा भाई नहीं है, यह मेरा काल है, (वह सत्य है)॥ ३-४॥

टिप्पणी—१ *'मुष्टि प्रहार बज्र सम लागा'* इति। वज्र पड़नेका रूपक कहते हैं—

आकाश	यहाँ
वज्रपात होता है	वालीने मुष्टिप्रहार किया
वज्रपातके पीछे गर्जना होती है	मुष्टिप्रहार करके वाली गर्जा
वज्रपातसे लोग व्याकुल होते हैं	सुग्रीव व्याकुल होकर भागे
इन्द्र वज्रपात करता है	इन्द्रके अंश वालीने मुष्टिप्रहार किया

इन्द्रका आयुध वज्र है, वाली इन्द्रसे उत्पन्न है, अत: उसका घूँसा वज्रवत् है।

टिप्पणी—२ (क) *'मैं जो कहा'* इति। पूर्व जो सुग्रीवने कहा था कि *'रिपु सम मोहि मारेसि अति भारी। हरि लीन्हेसि सरबस अरु नारी॥'* (४। ६। ११) उसी कथनका यहाँ संकेत है। वहाँ *'रिपु सम'* कहा और यहाँ 'काल'; दोनों ही एक-से हैं, रिपु भी मारना ही चाहता है। *'ताके भय रघुबीर कृपाला।'''* (६। १२) देखिये। यहाँ तात्पर्य यह है कि मैं उससे युद्ध करनेयोग्य नहीं हूँ, आप ही कृपा करके उसे मारें।

टिप्पणी—३ *'बंधु न होइ मोर यह काला',* यही बात उससे कहलानेके लिये श्रीरामजीने उसे इस लड़ाईमें विशाल बल नहीं दिया था। सुग्रीवने ज्ञान होनेपर वालिको *'परमहित'* कहा, परमहितको कैसे मार सकते है; अतएव जबतक वह उसको शत्रु न कहे तबतक मारना अनुचित ही था। जब वाली सुग्रीवको मारे और सुग्रीव उसको शत्रु कहे तब उसको मारें। यहाँ 'शुद्धापह्नुति अलंकार' है। यहाँ कालके आरोपसे भाईका धर्म छिप गया।

नोट—१ *'बंधु न होइ मोर यह काला'* में अ० रा० के '**किं मां घातयसे राम शत्रुणा भ्रातृरूपिणा। ''एवं मे प्रत्ययं कृत्वा सत्यवादिन् रघूत्तम। उपेक्षसे किमर्थं मां शरणागतवत्सल॥**' (२। ११-१२) तथा वाल्मी० के '**आह्वयस्वेति मामुक्त्वा दर्शयित्वा च विक्रमम्। वैरिणा घातयित्वा च किमिदानीं त्वया कृतम्॥**' (१२। २६)''''इन श्लोकोंका भाव भी आ जाता है कि क्या आप मुझे इस भ्रातारूपी शत्रुसे मरवाना चाहते हैं? हे शरणागतवत्सल रघुनाथजी! मुझे विश्वास दिलाकर आप मेरी उपेक्षा क्यों करते हैं? आपने वालीको बुलानेको कहा, अपना सामर्थ्य मुझे दिखाया कि आप वालीको मार सकते हैं फिर भी आपने मुझे शत्रुसे पिटवाया'''। *'रघुबीर कृपाला'* से सत्यप्रतिज्ञ, शरणागतवत्सल और रघुवंशियोंमें श्रेष्ठ जनाया—'**सत्यवादिन् रघूत्तम शरणागतवत्सल।**' (अ० रा० २। १२)

नोट—२ यहाँ वीरका सामना है; अत: रघुवीर पद दिया, नहीं तो रघुनाथ पदमें भी छन्द बैठ सकता

* सम्भव है कि ऐसे गर्जनसे वालीने गर्वके साथ सुग्रीव तथा उनके सहायकोंको यह जनाया कि हमारा बल-सामर्थ्य साधारण नहीं है। अर्थात् गर्जनद्वारा सुग्रीव और उसके सहायकका तिरस्कार किया।—(शि० र०)

था। पुनः, सुग्रीव वालीको काल कहते हैं और *'कालहु डरहिं न रन रघुबंसी।'* अतः रघुकुल-सम्बन्धी नाम दिया। रघुवीर=पञ्चवीरतायुक्त।

नोट—३ शत्रुसे मार खानेपर भी सुग्रीवने कटु वचन न कहकर *'रघुबीर कृपाला'* ही सम्बोधन किया, इससे उपदेश ग्रहण करना चाहिये कि मित्रद्वारा कोई बात ऐसी देखकर जो अपनेको उचित न जँचे मित्रताकी अवहेलना न करना मित्रका धर्म है। पाँड़ेजीका मत है कि यहाँ *'रघुबीर'* और *'कृपाला'* शब्दमें व्यङ्ग है कि आपकी वीरता और कृपालुता रहते हुए भी मेरी यह दुर्दशा की गयी। वीर होकर भी आपने रक्षा न की, कृपालु होकर भी मेरी दशापर आपका धैर्य बना ही रहा।

एकरूप तुम्ह भ्राता दोऊ। तेहि भ्रम ते नहिं मारेउँ सोऊ॥५॥

अर्थ—तुम दोनों भाई एकरूप हो, इसी भ्रमसे उसको मैंने नहीं मारा (कि कहीं बाण तुम्हारे न लग जाय)॥५॥

मा० त० भा०—श्रीरामजी मनुष्यलीला करते हैं, इसीसे अपनेमें भ्रम कहते हैं।

नोट—१ **'अन्योन्यसदृशौ वीरावुभौ देवाविवाश्विनौ॥ अलंकारेण वेषेण प्रमाणेन गतेन च। त्वं च सुग्रीव वाली च सदृशौ स्थः परस्परम्॥ स्वरेण वर्चसा चैव प्रेक्षितेन च वानर। विक्रमेण च वाक्यैश्च व्यक्तिं वां नोपलक्षये॥ ततोऽहं रूपसादृश्यान्मोहितो वानरोत्तम। नोत्सृजामि महावेगं शरं शत्रुनिबर्हणम्॥''''त्वयि वीर विपन्ने हि अज्ञानाल्लाघवान्मया। मौढ्यं च मम बाल्यं च ख्यापितं स्यात्कपीश्वर॥'** (वाल्मी० ४। १२। १९, ३०—३४) अर्थात् दोनों वीर समान थे। अश्विनीकुमारोंके समान उनमें कुछ भी भेद न जान पड़ता था॥१९॥ (ये वाल्मीकिजीके वचन हैं।) अलंकार, वेष, शरीरकी ऊँचाई, लम्बाई-चौड़ाई इत्यादि और चालसे तुम दोनों समान हो। स्वर, तेज, दृष्टि, पराक्रम और वाक्योंसे दोनोंमें भेद न जान पड़ा। इसी रूप-सादृश्यसे मोहित होकर मैंने शत्रुनिहन्ता बाण नहीं छोड़ा। यदि मेरे अज्ञान या आतुरतासे कहीं तुम मारे जाते तो मेरी मूर्खता एवं लड़कपन ही समझा जाता।—वाल्मीकीयके इस उद्धरणसे यही सिद्ध होता है कि दोनों भाइयोंमें किंचित् भेद न था। (अध्यात्म० २। १३, १४) में भी कहा है कि **'आलिंग्य मा स्म भैषीस्त्वं दृष्ट्वा वामेकरूपिणौ॥ मित्रघातित्वमाशंक्य मुक्तवान् सायकं न हि। इदानीमेव ते चिह्नं करिष्ये भ्रमशान्तये॥'** (१३-१४) अर्थात् सुग्रीवको छातीसे लगाकर कहा कि डरो मत, तुम दोनोंका एक-सा रूप देखकर मित्रका ही घात कहीं न हो जाय इस शंकासे मैंने बाण नहीं चलाया। अब उस भ्रमको मिटानेके लिये मैं तुममें चिह्न किये देता हूँ। इनसे भी एकरूपता स्पष्ट है।

भगवान् नरनाट्य कर रहे हैं, माधुर्यमें भ्रम, रोदन आदि सब शोभनीय हैं और सर्वज्ञ प्रभुका ऐसा कहना अयोग्य नहीं है। यह सम्भव हो सकता है कि इस कथनमें कुछ गूढ़भाव भी हो, पर साधारणतया 'एकरूप' का भाव प्रमाणोंसे यही सिद्ध है जो ऊपर कहा गया।

पं० शिवलाल पाठक आदिने प्रभुमें भ्रम होना न स्वीकार करके 'एकरूप' के अनेक भाव कहे हैं। उनसे सहमत न होनेमें उनसे हम क्षमाप्रार्थी हैं। गुप्तभाव ये भले ही हों यह सम्भव है पर प्रमाण-सिद्ध नहीं है। वे भाव आगे दिये जाते हैं। वीरकविजी लिखते हैं कि यहाँ 'व्याजोक्ति अलंकार' है। वालीको परमहित कहा था, इसीसे न मारा, पर इस बातको न कहकर ऐसा कहा।

मा० म०—*'दोऊ रूप मिले फिरे लगिबे मो भ्रम कीन। जो लखिबे मों भ्रम कहे ते आपे दृग हीन॥ भ्रम करुणाको कहत हैं अनुरागी को रूप। होइ दूसरो तो बचे जो बध देहि अनूप॥'* (१-२) अर्थात् जब वाली और सुग्रीव युद्ध करने लगे तब दोनोंका शरीर एकत्र मिल गया अतएव रामचन्द्रजीको यह शंका हुई कि बाण चलानेसे कदाचित् सुग्रीवको लग जाय तो विश्वासघात होगा। अतएव बाण नहीं चलाया। तात्पर्य यह कि लगनेमें भ्रम हुआ, पहिचाननेमें कदापि नहीं हुआ।—(पर भगवान्‌को तो मिले हुए होनेपर भी बाणसे केवल वालीका ही वध करना कैसे असम्भव मान लिया जाय? जब असम्भव नहीं तो उसमें भी भ्रम कैसे कहेंगे?)—पुनः, भ्रम करुणाको भी कहते हैं, इससे यह अर्थ हुआ कि श्रीरामचन्द्रजीने विचारा कि यदि वाली भी सुग्रीव-ऐसा अनुरागी हो जाता तो बच जाता।

श्री० मिश्र०—एकरूप(=एक स्वभाव) देखकर मुझे यह भ्रम हुआ कि इन दोनोंको तो मेरी ही गति है, तब एकको कैसे मारूँ। भाव यह कि तुमको तो मेरा मुख्य विश्वास सप्तताल-वेधनसे प्राप्त हो गया है और उधर वालीने भी मुझे समदर्शी कहा है। अतएव शरणागतके भ्रमसे नहीं मारा। (नोट—पर इसी परम्पराके पण्डित महादेवदत्तजी, मा० म० और मिश्रजीके भावोंको न देकर, नरनाट्यको प्रमाण मानते हैं।)

वै०—(क) 'एकरूप हो इस भ्रमसे नहीं मारा', ये वचन सन्दिग्ध हैं। प्रभुके बाण संकल्पानुकूल कार्य करनेवाले हैं तब ये वचन वाचकार्थ कैसे सिद्ध हों? पुन:, रघुनाथजी सत्यसंकल्प हैं; वे असत्य नहीं कहेंगे। दूसरे, वालि-वधका संकल्प करके उन्होंने सुग्रीवको भेजा, इससे नरनाट्यका भी अभाव होता है। अतएव इन शब्दोंका अभिप्राय यह है कि प्रभु तो शत्रुमित्र-भावरहित सबसे एकरस हैं पर **'दर्पणे मुखवत्'** न्यायानुसार जो जैसा भाव रखता है प्रभु उसको वैसा ही दिखते हैं। यथा—**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।'** (गीता) पुन:, श्रुति **'तद्यथायथोपासते तथा तथा तद्भवति।'** इस रीतिसे प्रभुने विचार किया कि सुग्रीवका मित्रभाव है और वालीका कोई भाव प्रसिद्ध नहीं है और जो वधकी प्रतिज्ञा है, वह सुग्रीवके दु:ख-निवारणार्थ है। अतएव समझकर कार्य करना चाहिये क्योंकि वैर तो केवल वालीकी ओरसे है सुग्रीवकी ओरसे नहीं है। यदि सुग्रीवके जानेपर वाली उससे मिल जाय तो मेरे लिये एक-से हैं। इस भावसे 'एकरूप' कहा। (ख) वालीने समदर्शी कहा और सुग्रीवने भी उसे परमहित कहा। (अतएव यदि वालीको मारते तो सम्भव था कि सुग्रीव कहता कि उसको व्यर्थ मारा, उससे तो मेरा वैरभाव नहीं रह गया था।) इस विचारसे दोनोंको एकरूप कहा। दूसरे, कोई शरणागतिका चिह्न भी सुग्रीवको न दिया था जिससे वाली जान लेता कि सुग्रीव रामाश्रित हो चुका है, अब भागवतापराध प्रभु न क्षमा करेंगे। अब सुग्रीवने उसे काल कहा है, अत: अब मारेंगे। (करु०)

करु०—यहाँ प्रभुका सौशील्यगुण दिखाते हैं। सुग्रीव सखा है और रघुराई 'प्रनतकुटुम्बपाल' हैं। अतएव उसके सब भाई-बन्धु-सखा हुए। अतएव एकरूप कहा। यहाँ यह भ्रम हुआ कि ऐसी दशामें वालीको कैसे मारें।

शि० र० शु०—यहाँ इस कथनका अभिप्राय यह है कि तुम्हारे बाहरी रूप और आकारके अतिरिक्त हृदयोंको नहीं पहचाना था। इसमें एक प्रकारसे व्यङ्ग है कि कहाँ तो तुम परम हितैषी कहते थे और कहाँ एक ही मूकेमें वह भाव दूर हो गया। उधर वाली भी अपनेको ज्ञानी समझता था। अत: आशय यह है कि तुम दोनोंको हम पहचान न पाये; क्योंकि प्रथम एक रूपमें और पीछे दूसरे रूपमें देखे गये। पहले यह समझा गया कि तुम दोनों विवेक-बुद्धि-सम्पन्न हो और क्षणिक सुख-सम्बन्धी राज्यके लिये युद्ध न करोगे। परंतु यह सत्य ठहरा कि दोनोंने द्वेषबुद्धिमें प्रवृत्त हो शत्रुके समान युद्ध किया। अत: ऐसी दशामें आन्तरिक रूपसे कैसे पहचाने जा सकते थे।

श्रीनंगे परमहंसजी लिखते हैं कि 'दोनों भाइयोंके एक रूप होनेसे भ्रम होनेका योग था। **भ्रम**=विपरीत निश्चय। वालीमें सुग्रीवका निश्चय हो जाना और सुग्रीवमें वालीका निश्चय हो जाना भ्रम कहलाता है। श्रीरामजीको भ्रम नहीं हुआ, भ्रम होनेका संयोग था इसीसे उन्होंने वालीको नहीं मारा। यदि भ्रम हो जाता कि यह सुग्रीव है और यह वाली है तब तो मारते ही। अत: अभी तो श्रीरामजी एकरूप होनेसे भ्रमका संयोग सूचित कर रहे हैं। श्रीरामजी यहाँपर नीति दिखला रहे हैं कि जहाँपर भ्रमका संयोग हो वहाँपर प्रथम भ्रमके संयोगको हटाकर तब कार्य करना उचित है। श्रीरामजी मर्यादापुरुषोत्तम हैं, वे नीतिका पालन न करेंगे तो कौन करेगा? श्रीरामजीको भ्रम हो गया यह कहना अयोग्य है; क्योंकि जिसको भ्रम होता है वह नहीं कहता कि हमको भ्रम हो गया है। जैसे जिसको दिशाका भ्रम होता है वह नहीं कहता कि हमको दिशाका भ्रम है, जिसको रज्जुमें सर्पका भ्रम हो जाता है वह नहीं कहता कि हमको भ्रम है, वह तो यही कहता है कि सर्प है और भयभीत होकर लाठी मारता है। उसी तरह यदि श्रीरामजीको सुग्रीवमें वालीका भ्रम होता तो वे न कहते कि हमको भ्रम हुआ, क्योंकि जिसको भ्रम होता है उसको

मालूम नहीं होता कि हमको भ्रम है।' (नोट—श० सा० में 'भ्रम' का अर्थ 'संशय, सन्देह' भी है।)

पं०— रामजीको भ्रम कैसा? उत्तर—वालीकी अभी इतनी आयु शेष थी, देश भी मरणका न था, अतएव मर्यादापुरुषोत्तमने मर्यादा-पालनहेतु यह मनुष्य-स्वाँग (नरनाट्य) किया। दूसरे युद्धमें देश और काल दोनों प्राप्त होंगे तब मारेंगे।

नोट—२ स्वामी प्रज्ञानानन्दजी भी मुझसे सहमत हैं और लिखते हैं कि—*'पूछत चले लता तरु पाती'*, *'प्रभु प्रलाप सुनि कान'* इत्यादि अनेक माधुर्य-लीलाएँ हैं, जिनको देखकर *'पावहिं मोह बिमूढ़'* और *'पंडित मुनि पावहिं बिरति।'* इस लीलासे यह उपदेश दे रहे हैं कि मित्रका उपकार-कार्य भी उतावलीमें अथवा भ्रममें करना अधर्म है। सुविचारपूर्वक ही करना चाहिये। अन्यथा हितके बदले अहित, अपयश और अधर्म ही होगा।

कर परसा सुग्रीव सरीरा। तनु भा कुलिस गई सब पीरा॥ ६॥
मेली कंठ सुमन कै माला। पठवा पुनि बल देइ बिसाला॥ ७॥

अर्थ—तदनन्तर सुग्रीवजीके शरीरपर श्रीरामजीने हाथ फेरा। जिससे उनका शरीर वज्र (के समान दृढ़) हो गया और सब पीड़ा जाती रही॥ ६॥ गलेमें फूलोंकी माला पहिना दी और पुनः भारी बल देकर लड़नेके लिये भेजा॥ ७॥

टिप्पणी—१ (क) *'कर परसा सुग्रीव सरीरा'* इति। जब सुग्रीवको ज्ञान उत्पन्न हुआ और उसका मन लड़नेसे फिर गया, तब उरमें प्रेरणा करके उसके मनको सम्मुख किया गया। इसीपर कहा कि *'नट मरकट इव सबहि नचावत। राम"।'* (७। २४) और जब लड़नेसे तन थका तब हाथ फेरकर तनको वज्रवत् कर दिया। (ख) यहाँ सारे शरीरपर हाथ फेरा है। इससे सूचित हुआ कि वालीके मुष्टिप्रहारसे सुग्रीवके सब अङ्गोंमें पीड़ा हुई। (ग) वालीने सुग्रीवको तृण-सम गिना, यथा—*'तृन समान सुग्रीवहिं जानी।'* इसीसे श्रीरामजीने सुग्रीवका तन वज्रके समान कर दिया, यथा—*'तृन ते कुलिस कुलिस तृन करई।'* (६। ३४। ८) (घ) ऊपर देखनेमें तो श्रीरामजीने सुग्रीवकी खातिरी की, देहपर हाथ फेरा कि हे मित्र! तुम्हारे बड़ी चोट आयी; पर वस्तुतः सब शरीरको वज्रवत् करनेके लिये सर्वाङ्गपर हाथ फेरा है।

टिप्पणी—२ *'बल देइ बिसाला'* इति। श्रीरामजीने सुग्रीवके तनमें बल दिया जैसे वे सबको देते हैं, यथा—*'जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा॥ जो बल सीस धरत सहसानन। अंडकोस समेत गिरि कानन॥'* (२१। ५-६) श्रीरामजीने सुग्रीवको विशाल बल दिया जिससे वह वालीसे लड़ सके। वालीसे अधिक बल उसे नहीं दिया; क्योंकि अधिक बल पाकर यदि सुग्रीवने ही वालीको मार डाला तो जो प्रतिज्ञा कर चुके हैं कि *'मारिहौं बालिहि एकहि बान'* वह भङ्ग हो जायगी।

नोट—१ *'सुमन की माला'*। यह माला गंजपुष्पीलता लेकर लक्ष्मणजीने बना दी, वही माला पहनायी गयी जिससे चिह्न हो जाय। यथा—'**गजपुष्पीमिमां फुल्लामुत्पाट्य शुभलक्षणाम्। कुरु लक्ष्मण कण्ठेऽस्य सुग्रीवस्य महात्मनः॥ ततो गिरितटे जातामुत्पाट्यकुसुमायुताम्। लक्ष्मणो गजपुष्पीं तां तस्य कण्ठे व्यसर्जयत्॥**' (वाल्मी० १२। ३९-४०) अर्थात् हे लक्ष्मण! महात्मा सुग्रीवके गलेमें वह खिली हुई गजपुष्पीलता पहना दो। गिरितटपर उत्पन्न पुष्पयुक्तलता लक्ष्मणजीने पहिना दी। वाल्मी० और अ० रा० दोनोंहीमें लक्ष्मणजीने माला पहनायी है। अ० रा० में 'पुष्पमाला' शब्द हैं, यथा—'**सुग्रीवस्य गले पुष्पमालामामुच्य पुष्पिताम्।**' (अ० रा० २। १६) और *'मेली'* की जगह '**बद्ध्वा**' शब्द है। अर्थात् गलेमें फूले हुए पुष्पोंकी माला बाँध दी। पर मानसमें श्रीरामजीका स्वयं ही माला पहनाना और विशाल बल देकर भेजना कहा है। मेली और पठवा दोनोंका कर्ता एक ही है।

नोट—२ *'मेली कंठ'* से जनाया कि यह माला कण्ठसे लगी हुई पहनायी है, जिसमें लड़ाईमें टूट न जावे। वालीने प्रभुको समदर्शी कहा था; अतएव माला पहिनाकर वालीको जनाते हैं कि हम समदर्शी

हैं, पर सुग्रीव मेरा आश्रित है; अब यदि तुम उससे शत्रुता छोड़ दो तो मैं न मारूँगा, नहीं तो *'जो अपराध भगत कर करई। रामरोष पावक सो जरई॥'* उपासक लोग कहते हैं कि माला पहिनाया मानो उसका वैष्णव-संस्कार कर दिया है। कुछका मत है कि फूलमाला मङ्गल-कामनाके लिये प्रस्थान-समय पहिनायी जाती है जिससे मनुष्यके चित्तमें उत्साह और साहस सदा बना रहता है। उसी विचारसे पुष्पमाला पहनायी गयी है। पर रामायणोंमें जो कारण दिया है वह यही है कि चिह्नके लिये माला पहिनायी। यथा—'**कृताभिज्ञानचिह्नस्त्वमनया गजसाह्वया।**' (वाल्मी० १४।८) (इस गजपुष्पीद्वारा तुम चिह्नित कर दिये गये हो, अतएव तुम पहिचान लिये जाओगे) '**अभिज्ञानं कुरुष्व त्वमात्मनो वानरेश्वर। येन त्वामभिजानीयां द्वन्द्वयुद्धमुपागतम्॥**' (१२।३८) अर्थात् कोई ऐसा चिह्न बना लो जिससे वालीसे युद्ध करते समय मैं तुम्हें पहिचान सकूँ। शेष भाव गौण हैं।

पुनि नाना बिधि भई लराई। बिटप ओट देखहिं रघुराई॥ ८॥

दो०—बहु छल बल सुग्रीव करि हिय हारा भय मानि।
मारा बालि* राम तब हृदय माँझ सर तानि॥ ८॥

अर्थ—दोनोंमें फिर अनेक प्रकारसे लड़ाई हुई। श्रीरघुनाथजी वृक्षकी आड़से देख रहे हैं॥ ८॥ जब सुग्रीव बहुत छल और बल करके भय मानकर हृदयसे हार गया तब श्रीरामचन्द्रजीने (धनुषपर) बाण (चढ़ाकर) और उसे तानकर (जोरसे खींचकर) वालीके हृदयमें बाण मारा॥ ८॥

नोट—१ *नाना बिधि,* यथा—'**वृक्षैः सशाखैः शिखरैर्वज्रकोटिनिभैर्नखैः॥ मुष्टिभिर्जानुभिः पद्भिर्बाहुभिश्च पुनः पुनः। तयोर्युद्धमभूद् घोरं वृत्रवासवयोरिव॥**' (वाल्मी० ४। १६। २८-२९) अर्थात् शाखायुक्त वृक्षों, पर्वतके शिखरों, वज्रसमूहके-से चमकीले नखों, मुष्टिकों, घुटनों, चरणों और बाहुओंसे बारम्बार दोनोंमें ऐसा घोर युद्ध हुआ जैसा वृत्रासुर और इन्द्रका हुआ था।

टिप्पणी—१ *'बिटप ओट देखहिं रघुराई'* इति। (क) विटप-ओटसे देखते हैं, क्योंकि—यदि वे प्रकट खड़े होकर दोनोंकी लड़ाई देखते तो सुग्रीवका धैर्य छूट जाता कि हमको लड़ाकर आप तमाशा देखते हैं। (ख) कौतुक देखनेके सम्बन्धसे *'रघुराई'* पद दिया अर्थात् ये रघुवंशके राजा हैं और राजा कौतुकी होते ही हैं, यथा—*'अस कौतुक बिलोकि दोउ भाई। बिहँसि चले कृपालु रघुराई॥'* वहाँ भी कौतुकके सम्बन्धसे रघुराई-पद दिया गया है। (प० प० प्र० का मत है कि *'रघुराई'* शब्दसे चक्रवर्त्ति-राजसत्ताकी सूचना दी गयी। जहाँ-जहाँ *रघुराई, रघुराऊ, रघुराया, कोसलपति, कोसलाधीस* और *कोसलराज* शब्दोंका प्रयोग है वहाँ चक्रवर्त्ति-राजसत्ताका सम्बन्ध सूचित है, *'आगे चले बहुरि रघुराया।'* (४।१।१) *'सीतहि सभय देखि रघुराई।'* (३।१७।२०) *'पंपा सरहि जाहु रघुराई।'* (३।३६।११) देखिये)।

शि० र० शु०—युद्धमें छलको काममें लाना दो बातें सिद्ध करता है। एक यह कि छल करनेवालेके पास शारीरिक बल कम है, दूसरे यह है कि वह रक्तपातको पसंद नहीं करता, चातुर्यताद्वारा काम निकालना चाहता है। राजनीतिमें इसीको कूटनीति भी कहते हैं। अपनी चालोंको इस प्रकार प्रकट करना कि वह शत्रुकी दृष्टिमें विपरीत देख पड़े, दूसरे पक्षको अपने पक्षके कार्यकी वास्तविक दशा न प्रकट हो, इसीको छल कहते हैं। युद्धमें छल अनुचित नहीं हैं, क्योंकि दोनों पक्ष सावधान हैं। श्रीकृष्णमहाराजका युद्ध प्रायः छल-संयुक्त होता था। जरासन्ध आदिके मारनेमें छलका प्रयोग किया गया।

नोट—२ *'हिय हारा भय मानि।'*...इति। '**हीयमानमथापश्यत्सुग्रीवं वानरेश्वरम्। प्रेक्षमाणं दिशश्चैव राघवः स मुहुर्मुहुः॥ ततो रामो महातेजा आर्तं दृष्ट्वा हरीश्वरम्।**'...'**राघवेण महाबाणो वालिवक्षसि पातितः॥**' (वाल्मी० ४। १६। ३१—३५) अर्थात् 'कपीस सुग्रीवको जब हारा हुआ इधर-उधर (घबराहट)

* पाठान्तर—'बालि' (गौड़जी),—'बालिहि'—(मा० त० मा०)।

से देखता हुआ और पीड़ित देखा…तब राघवने वालीकी छातीमें महाबाण मारा।'

वि० त्रि०—'*पुनि नाना…रघुराई…।*' इति। वाली मुष्टिप्रहार करके बड़े ध्वनिसे गर्जन करता है कि कहाँ हैं सहायता करनेवाले। पीछा नहीं किया, क्योंकि सुग्रीव दूर नहीं भागा, वहीं पेड़के झुरमुटमें गया, जहाँसे सहायता मिलनेवाली थी और फिर माला पहनकर लड़नेके लिये आया। यद्यपि सरकार विटपके ओटमें थे, पर बात छिपी नहीं रह गयी। वालीने स्वयं देख लिया कि सुग्रीवको कहाँसे सहायता मिलेगी।

जो सुग्रीव एक मुष्टिप्रहार सहनेमें असमर्थ था, उसमें एकाएक इतना बल कहाँसे आ गया कि नाना विधिसे युद्ध कर सके। इन सब बातोंपर उस महाअभिमानीने ध्यान ही न दिया और जब उसे मालूम हो गया कि उसके सहायक सरकार हैं और उसी पेड़की आड़में हैं, तो शरणमें जानेके लिये भी उसे यथेष्ट अवसर था, पर उस महाअभिमानीने उस अवसरको भी हाथसे गँवा दिया। समझता था कि मँगनीका बल कहाँतक काम देगा और अन्तमें उसने सुग्रीवको ऐसे दाँवसे बाँध लिया, जिससे सुग्रीव एकदम बेबस हो गये। आजकल भी पहलवान लोग उस दाँवसे परिचित हैं और उसे बालिबन्ध कहते हैं। उस दाँवसे अपने प्रतिद्वन्द्वीको बाँधना मल्लविद्याके नियमके विरुद्ध है। सुग्रीव उसी दाँवमें बँध जानेसे सभीत होकर हृदयसे हार गये। यह सब घटना सरकार पेड़की ओटसे देख रहे थे। जान लिया कि अब वाली सुग्रीवको मार डालेगा। अब सुग्रीवका किया कुछ नहीं हो सकता।

टिप्पणी—२ (क) '*बहु छल बल करि हिय हारा।*' ☞इससे जनाया कि जबतक जीवके हृदयमें छल-बल रहता है तबतक भगवान् उसकी सहायता नहीं करते। जब वह पुरुषार्थ और सब आशा-भरोसा छोड़ प्रभुकी ओर ताकता है तभी वे तुरंत सहायक होते हैं। (पां०) (ख) '*हृदय माँझ सर तानि*' इति। वाली भारी बलवान् है और उसको एक ही बाणसे मारनेकी प्रतिज्ञा है; इसीसे धनुष खूब खींचकर बाण मारा। (ग) ओटसे मारनेका भाव यह है कि वालीके हृदयमें भक्ति है, यथा—'*जेहि जोनि जनमौं कर्मबस तहँ रामपद अनुरागऊँ।*' यदि सामने होते तो और वह प्रणाम करता वा शरण होता तब उसे मारते न बनता और न मारनेसे प्रतिज्ञा भ्रष्ट होती।

नोट—३ पंजाबीजी दूसरा भाव यह भी लिखते हैं कि मल्लयुद्ध देरतक हुआ और ग्रीष्मके दिन थे, इससे प्रभु वृक्षकी छायामें खड़े रहे; पर यह भाव कुछ विशेष संगत नहीं जान पड़ता। प्र०-कारने भी इस भावको लिया है। प० प० प्र० का भी यही मत है।

नोट—४ वालीका सिर क्यों न काटा? क्योंकि सर्वज्ञ प्रभु जानते हैं कि अन्त-समय उसे कुछ कहना है। दूसरे, हृदयमें ही बाण मारा, क्योंकि उसके हृदयमें अहंकार भरा हुआ है; उसके अहंकारको नष्ट करके तब उसको मुक्ति देंगे, अहंकार रहते हुए मुक्ति न होगी। बाण लगते ही हृदयका अहंकार दूर हो गया और उसमें प्रीति समा गयी। इसीसे आगे कहा है कि '*हृदय प्रीति मुख बचन कठोरा। बोला चितइ राम की ओरा॥*' (पं) प्रथम बार समदर्शी कहकर आया था इससे न मारा, दूसरी बार समदर्शीका भाव न रहा तब मारा। (मा० शं०)

परा बिकल महि सर के लागे। पुनि उठि बैठ देखि प्रभु आगे॥ १॥

अर्थ—श्रीरामजीके बाणके लगते ही वाली व्याकुल होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा परन्तु प्रभुको आगे देखकर फिर उठ बैठा॥ १॥

टिप्पणी—१ प्रथम चरणमें रामबाणका सामर्थ्य दिखाया कि ऐसा वीर एक ही बाण लगनेसे विकल होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा। यथा—'*सो नर क्यों दसकंध बालि बधेउ जेहि एक सर।*' (६। ३२) '*बालि एक सर मार्यो तेहि जानहु दसकंध।*' (६। ३५) और, दूसरे चरणमें रामदर्शनका प्रभाव दिखाया कि ऐसे कठिन बाणके लगनेपर भी उठकर बैठ गया। २—'*देखि प्रभु आगे*', यहाँ प्रभुको आगे देखना कहकर जनाया कि रामचन्द्रजी चलकर वालिके सम्मुख आ गये यह उनकी दया सूचित करता है कि उसपर कृपा करके दर्शन

देनेके लिये पास आये नहीं तो मारकर चले जाते, सम्मुख प्रकट होनेका कोई प्रयोजन न था। यथा—'**बहुमान्य च तं वीरं वीक्षमाणं शनैरिव। उपयातौ महावीर्यौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ॥**'—(वाल्मी० १७। १३) अर्थात् महावीर दोनों भाइयोंने वालिका सम्मान किया और उसके पास गये। (आगे भी देखिये)

मा० त० प्र—वालि भक्त है इसीसे वह उठ बैठा, जिसमें रघुनाथजीकी लोकमें निन्दा न हो, उनके इस चरित्रको लोग दूषित वा अनीति न समझें। यही कारण प्रथम कठोर वचन बोलनेका भी है, क्योंकि बिना कठोर वाक्य सुने प्रभु नीतिद्वारा उसका समाधान क्यों करने लगे और बिना नीतिके ज्ञानके लोग आक्षेप करेंगे ही। यह प्रकरण लोगोंका अनीति जान पड़ा। इसके उदाहरण राजा शिवप्रसाद आदि अनेक समालोचक हैं। राजा शिवप्रसाद एवं और भी कुछ समालोचक तो ऐसे हैं कि जिन्होंने जन्मभरमें एक बार भी वाल्मीकीय रामायण नहीं देखी और उसपर समालोचना कर बैठे।—[नोट—पर राजा शिवप्रसादके 'इतिहासतिमिर-नाशक तीसरे खण्ड' में एक समाधान भी उनका निकल आता है जो पं० रामचन्द्रशुक्लजीने भी दिया है। वे शब्द ये हैं—'शायद साबित करना था कि मनुष्य बे चूके नहीं रहता']

मा० म०—प्रभु उसके पास इसलिये गये कि वह मर जायगा तो पछतावा रहेगा। इसलिये उससे संवाद करने गये। वा वालि अङ्गदको सौंपेगा इसलिये निकट गये।

शीला—जब एक बाणसे मारनेकी प्रतिज्ञा है तब वाली कैसे उठ बैठा इसमें कारण यह है कि विटप-ओटसे मारे जानेपर वालीके हृदयमें रामजीकी निन्दा बस गयी और हरिनिन्दकको रामधामकी प्राप्ति हो नहीं सकती। इस विचारसे यह लीला हुई। रामजी उसे न्यायद्वारा माकूल (निरुत्तर) करके निन्दा उसके हृदयसे मिटाकर भक्ति दे उसे निजधाम देनेके लिये सामने आये।

शि० र० शु०—वालीके उठ बैठनेसे सिद्ध होता है कि वह बड़ा साहसी है। शक्तिको तो बाणप्रहारने क्षीण किया, परंतु उसकी साहसी शक्ति ज्यों-की-त्यों बनी रही। बिना साहसके कोइ व्यक्ति वीर नहीं हो सकता। वह उठकर बैठा तो, परंतु देखता सम्मुख क्या है कि '*प्रभु*' आगे खड़े हैं। यदि तुलसीदासजीने यहाँ '*प्रभु*' शब्दका प्रयोग किया हो तो कथानुकूल ही है। परंतु यदि उनका तात्पर्य इस शब्दके व्यवहारसे वालीके इष्टदेवसे हो, तो वालीमें रही-रहाई शक्ति तथा साहस जहाँका तहाँ सुन्न हो जाता है और वाली '*प्रभु*' का रूप बारंबार देखता है।

प० प० प्र०—वाली यद्यपि अभी नहीं जानता कि ये प्रभु हैं तथापि उनका प्रभाव ही ऐसा पड़ता है कि देखनेवालेके हृदयमें स्वाभाविक ही उठकर सम्मान करनेकी प्रवृत्ति होती है। यथा—'*उठे सकल जब रघुपति आये। बिश्वामित्र निकट बैठाये॥*' (१।२१५।६) उठनेकी शक्ति इन्द्रको दी हुई मालाके प्रभावसे थी। '**शक्रदत्त वरा माला काञ्चनी रत्नभूषिता। दधार हरिमुख्यस्य प्राणास्तेजः श्रियं च सा।**' (वाल्मी० १७।५) (अर्थात् वह माला वालीके प्राण, तेज, शोभाकी रक्षक थी।) '*प्रभु*' से जनाया कि अब ऐश्वर्य-लीला करेंगे।

नोट—१ '*परा बिकल""पुनि उठि बैठ*' इति। इन शब्दोंसे सूचित होता है कि बाण लगनेसे वह मूर्च्छित हो गया, छटपटा रहा था, इसीसे उसने प्रभुको विटपके नीचेसे चलकर, पासतक आते नहीं देखा। जब चेत हुआ तब प्रभुको पास खड़े पाया। यथा—'**तदा मुहूर्त्तं निःसंज्ञो भूत्वा चेतनमाप सः। ततो वाली ददर्शाग्रे रामं राजीवलोचनम्।**' (अ० रा० २। ४८) पुनः प्रभुका चलना न कहकर यह भी दिखाया कि वे भक्तके लिये इतनी शीघ्रतासे आये (कि उसकी सब लालसाएँ '*मैं पुनि होब सनाथ*' इत्यादिकी पूरी कर दें) कि वह लख न सका।

स्याम गात सिर जटा बनाए। अरुन नयन सर चाप चढ़ाए॥ २॥
पुनि पुनि चितइ चरन चित दीन्हा। सुफल जनम माना प्रभु चीन्हा॥ ३॥

अर्थ—श्रीरामजीका श्यामशरीर है, सिरपर जटा बनाये हैं अर्थात् जटाओंका मुकुट धारण किये हैं, लाल नेत्र हैं, बाण लिये हैं और धनुष चढ़ाये हैं॥ २॥ वालीने बारंबार प्रभु दर्शन करके उनके चरणोंमें चित्तको लगा दिया, प्रभुको पहिचानकर अपना जन्म सुफल (कृतकृत्य) माना॥ ३॥

नोट—१ *'स्याम गात सिर जटा'''* इति। (क) अ० रा० में भी रूपका वर्णन यहाँ दो-ढाई श्लोकोंमें किया गया है। मिलता-जुलता हुआ अंश यह है—'**ततो वाली ददर्शाग्रे रामं राजीवलोचनम्। धनुरालम्ब्य वामेन हस्तेनान्येन सायकम्।४८। बिभ्राणं चीरवसनं जटामुकुटधारिणम्।''। ४९। पीनचार्वायतभुजं नवदूर्वादलच्छविम्।**' *'श्यामगात'* में '**नवदूर्वादलच्छवि**' (अर्थात् नवीन दूर्वादलके समान श्यामवर्ण)का, *'सिर जटा बनाये'* में '**जटामुकुटधारिणम्**' का, *'अरुन नयन'* में '**राजीवलोचन**' और *'सर चाप चढ़ाये'* में '**धनुरालम्ब्य वामेन हस्तेनान्येन सायकम्**' का भाव कहा गया है (ख) *'श्याम गात'*—ग्रन्थकारका श्यामस्वरूपका ध्यान *'नील सरोरुह श्याम' 'नील मणि श्याम', 'नील नीरधर श्याम', 'केकिकंठ द्युति श्यामल अंगा',* '**केकीकण्ठाभनीलम्**' इस प्रकारका है। प्राचीन ग्रन्थोंमें अतसी-कुसुम, दूर्वादल, गगन आदिका-सा वर्ण कहा गया है। यहाँ कोई नाम न देकर केवल *'श्याम'* विशेषण रखकर कविने अ० रा० आदिके मतोंकी रक्षा कर दी है। (ग) *'बनाये'* से जनाया कि मुकुटाकार सजाये हुए हैं। यथा—*'जटा मुकुट परिधन मुनि चीरं।'* (३। ११। ३), *'धृतजटाजूटेन संशोभितम्।'* (अ० म०) इससे जनाया कि जटाएँ भी शोभा दे रही हैं।

नोट—२ ☞ जहाँ कहीं आर्तिहरण गुण, शत्रु (अन्तर वा बाह्य)—दलन-सामर्थ्य, वा सुरनर-मुनिके शत्रुओंके दलनमें तत्परता इत्यादि वीररसकी भावना अभिप्रेत है वहाँ-वहाँ दिखाया जा चुका है कि अरुणकमलकी उपमा नेत्रोंको दी गयी है वा नेत्र अरुण कहे गये हैं। लाल डोरे पड़े हुए होना वीरता द्योतक है। यहाँ उदाहरणोंका सिंहावलोकन कराया जाता है—

(१) *'नील सरोरुह स्याम तरुन अरुन बारिज नयन'* (बा० मं०) में हृदयके कामादि शत्रुओंसे रक्षा करनेवाला स्वरूप अभिप्रेत है। (२) *'अरुन नयन उर बाहु बिसाला'* यह विश्वामित्रजीकी यज्ञरक्षाका स्वरूप है। साथ जा रहे हैं, ताड़काका वध करके फिर सुबाहु मारीचसे यज्ञकी रक्षा करेंगे। (३) *'राजीव'* कमल-विशेषको कहते हैं और अरुणकमलके लिये भी राजीव शब्दका प्रयोग होता है। अरण्यकाण्डमें मुनियोंपर दया करके उनके लिये *'निसिचरहीन करौं महि'* यह प्रतिज्ञा की है, इसीसे मङ्गलाचरण भी *'राजीवायत लोचन'* से किया और फिर प्रतिज्ञा करनेके बाद मुनिद्रोहीके वधमें तत्पर जब रामजी अगस्त्यजीसे मुनिद्रोहीके मारनेका मन्त्र पूछनेको जाते हुए रास्तेमें सुतीक्ष्णजीसे मिलते हैं तब *'अरुन नयन राजीव सुवेषं'* ऐसा स्वरूप मुनिने वर्णन किया है। श्रीसुतीक्ष्णजी भी रक्षाकी प्रार्थना कर रहे हैं, यथा—'**त्रातु सदा नो भव खग बाजः**' अतएव *'अरुण नेत्र'* कहे गये। (४) यहाँ सुग्रीवकी रक्षामें तत्पर रामजीका स्वरूप वालीवधके समय भी *'अरुन नयन सर चाप चढ़ाये'* है। (५) सुन्दरकाण्डमें रावणसे भयभीत होकर विभीषणजी प्रभुकी शरण आते हैं और रक्षा चाहते हैं—'**त्राहि त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुबीर**' तब वे प्रभुके स्वरूपको कैसा पाते हैं—'**भुज प्रलंब कंजारुन लोचन। स्यामल गात प्रनत भय मोचन**', जिसके भाव सुन्दरकाण्डमें दिये गये हैं। (६) इसी प्रकार लङ्कामें रावण-वधके समय *'अरुन नयन बारिद तनुस्यामा'* और *'जलजारुन लोचन भूप बर'* ऐसा स्वरूप देख पड़ा है।

इसमें भी अभिप्राय भरा है कि कुछ स्थलोंपर कमलवाची शब्दके साथ अरुण पद दिया है और कुछ स्थलोंपर *'अरुण'* मात्र कहा है, कमलवाची शब्द नहीं दिया गया। प्रायः वस्तुतः वधके समय कमलकी उपमा नहीं है; क्योंकि कमल कोमल होता है और वधके समय कोमलता कहाँ? वहाँ तो कठोरता आ जाती है। धन्य गोस्वामीजी और उनके सूक्ष्म विचार! उदाहरण ऊपर आ चुके हैं।

'सर चाप चढ़ाये' इति

करु०—अर्थात् धनुष चढ़ाये हैं, बाण हाथमें लिये हैं।

पं० रामकुमारजी—बाण दाहिने हाथमें है, चाप चढ़ाये हुए हैं सो बाएँ हाथमें है। धनुषपर बाण नहीं चढ़ाये हैं केवल धनुष चढ़ाये हैं। धनुषपर बाणका लगाना संधानना कहा गया है, यथा—*'संधान्यो प्रभु बिसिष कराला', 'अस कहि कठिन बान संधाने', 'खैंचि धनुष सत सर संधाने'* और *'सर संधान कीन्ह करि दापा',*

इत्यादि। और, धनुषपर रोदा लगानेके लिये **'चढ़ाना'** शब्दका प्रयोग कविने किया है, यथा—*'कोदंड कठिन चढ़ाइ सिर जटजूट बाँधत सोह क्यों', 'लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े', 'धनुष चढ़ाइ गहे कर बाना'* और *'धनुष चढ़ाइ कहा तब जारि करौं पुर छार'*, इत्यादि। यह बात अध्यात्मरामायणसे भी प्रमाणित होती है, यथा—**'धनुरालम्ब्य वामेन हस्तेनान्येन सायकम्'** (२। ४८) अर्थात् बाएँ हाथमें धनुष लिये हैं और दूसरे हाथमें बाण।

नं० प०—**'चढ़ाये'** शब्द चापका साथी है तब शरका सम्बन्ध चापसे कैसे हो सकता है? यदि कहिये कि 'सरकी क्रिया कैसे होगी?' तो उत्तर यह है कि यहाँ कर्मका लोप है, जब अध्याहार किया जायगा तब धनुषबाणकी क्रिया बनेगी। अर्थात् धनुषका आधार हाथ है, जब हाथका अध्याहार होगा तब धनुषकी क्रिया बनेगी कि हाथमें चढ़ाया हुआ धनुष लिये हैं और उसी तरह बाणका भी आधार हाथ ही है। जब हाथको कर्म बनाइये तो बाणकी भी क्रिया बनेगी कि दूसरे हाथमें शर लिये हैं। यहाँ श्रीग्रन्थकारजीने श्रीरामजीकी छबिको जैसी कि उस समय थी वैसी ही वर्णन किया है। चढ़ाया हुआ धनुष भी अपनी सुडौरता अर्थात् तने हुए रोदेसे श्रीसरकारकी शोभाका अधिक बोधक हो रहा है। रोदा उतरा हुआ धनुष उतनी शोभा नहीं रखता जितने चढ़े हुएमें होती है। चाप उतारा नहीं गया है इसीसे *'चाप चढ़ाए'* लिखा है।

नोट—३ वालीको मारनेके लिये जो धनुष चढ़ाया गया था वह अभी उतारा नहीं गया है, क्योंकि बाण छोड़ते ही तुरंत श्रीरामजी वालीके पास चल दिये, उनको वालीके पास पहुँचनेकी जल्दी थी। रह गया अब प्रश्न यह उठता है कि *'सर'* हाथमें कहाँसे आया? इसका उत्तर मानसके अनुसार तो यह है कि वालीको मारकर वह बाण लौटकर श्रीरामजीके हाथमें आ गया। जैसे *'छत्र मुकुट ताटंक सब हते एकही बान। सब के देखत महि परे मरम न कोऊ जान॥ अस कौतुक करि राम सर प्रबिसेउ आइ निषंग।'* (६। १३), *'मंदोदरि आगें भुज सीसा। धरि सर चले जहाँ जगदीसा॥ प्रबिसे सब निषंग महुँ जाई।'* (६।१०२।७-८), *'छन महुँ प्रभुके सायकन्हि काटे बिकट पिसाच। पुनि रघुबीर निषंग महुँ प्रबिसे सब नाराच॥'* (६। ६७) इत्यादि। यद्यपि अ० रा० और वाल्मीकीयके मतसे तो यह बाण वह नहीं है जिससे वाली मारा गया, क्योंकि अ० रा० में तो बालिकी प्रार्थनापर स्वयं श्रीरामजीने उस बाणको मरनेके पूर्व ही निकाला है, यथा—**'विशल्यं कुरु मे राम हृदयं पाणिना स्पृशन्। तथेति बाणमुद्धृत्य रामः पस्पर्श पाणिना॥'** (२। ७०) और वाल्मी० में सबके मर जानेपर नील वानरने वालीके शरीरसे वह बाण निकाला है, यथा—**'उद्बबर्ह शरं नीलस्तस्य गात्रगतं तदा।'** (२३। १७) तथापि मानसमें निकालनेका यह प्रसङ्ग न होनेसे और श्रीरामजीके बाण दिव्य हैं यह सर्वमान्य होनेसे मानसकल्पकी कथामें यह वही बाण हो सकता है।

वाल्मी० में तो श्रीरामजीके हाथमें बाण लिये हुए वालीके पास आनेकी चर्चा ही नहीं है। हाँ, अ० रा० में यह ध्यान अवश्य है। अतः मानसका उससे समन्वय करते हुए समाधान यह होगा कि श्रीरामजीका ध्यान *'सर चाप धर'* ही करनेकी रीति है, वे भक्तवत्सलताके कारण सदा धनुष-बाण हाथमें लिये रहते हैं, यथा—*'राजिवनयन धरें धनुसायक। भगत बिपति भंजन सुखदायक॥'* (१। १८। १०), *'कटि निषंग कर सर कोदंडा।'* (१।१४७।८), *'जासु हृदय आगार बसहिं राम सर चाप धर।'* (१। १७), **'पाणौ महासायक चारु चापं नमामि रामं रघुवंशनाथम्।'** (अ० मं०), **'पाणौ बाणशरासनम्।'** (अ० मं०) इत्यादि। अतएव उनके हाथमें बाण इस समय भी है, वे वालीको दर्शन देनेके लिये जा रहे हैं। भगवान्‌के सब आयुध दिव्य हैं। उन्हें तरकससे बाण निकालना नहीं पड़ता, हाथसे बाण खाली हुआ नहीं कि दूसरा बाण तरकससे निकलकर उनके हाथमें आ जाता है। वैसे ही यहाँ हुआ। देखिये, रावणका वध होनेपर भी प्रभुके हाथमें बाण है। यथा—*'भुजदंड सर कोदंड फेरत…।'* (६।१०२)

मा० म०—शोभाके लिये धनुष-बाण धारण करके वालीके निकट गये, वालीको पुनः मारनेके लिये कदापि बाण धारण नहीं किया; क्योंकि एक बाणसे ही मारनेकी प्रतिज्ञा थी। अथवा दूसरे प्रकारसे अर्थ कर सकते हैं कि 'लाल नेत्ररूपी शर भौंहरूपी चापपर चढ़ाये हैं' वा, धनुषको नैन ढिग करके खड़े हैं।'—(प्र०

और विनायकी टीकाकारने भी इनके इस अर्थको लिया है। पर ये अर्थ अत्यन्त क्लिष्ट कल्पनाएँ हैं।)

बैजनाथजी, बाबा हरीदासजी और दीनजी आदिने अर्थ किया है कि 'धनुषपर बाण चढ़ाये हैं।' और, कहते हैं कि 'वाली राजा है, उसकी सेना और सहायक हैं; पुनः यह भी सम्भव है कि अभी वाली उठकर कोई वार न करे, इसलिये युद्धनीतिके अनुसार अपनी रक्षाके लिये बाण चढ़ाये हुए सचेत हैं। उनकी प्रतिज्ञा तब खण्डित होती जब वे वालीपर दूसरा बाण चलाते।' किसीका कहना है कि यदि बाण धनुषपर चढ़ाये होते तो दोनों हाथ फँसे होते, तब वालीके सिरपर हाथ कैसे फेरते, बीचमें कहीं बाणका धनुषसे हटाना लिखा नहीं गया।

पं०—'*पुनि पुनि*' देखनेका कारण यह है कि—(क) श्रीरामचन्द्रजीका स्वरूप परम मनोहर है, बिना देखे रहा नहीं जाता। देखनेसे तृप्ति नहीं होती। यथा—'*चितवहिं सादर रूप अनूपा। तृप्ति न मानहिं मनु सतरूपा॥*' (१। १४८। ६), '*पुनि पुनि रामहिं चितव सिय सकुचति मन सकुचैन।*' (१। ३२६) वा, (ख)—अनेक विचार मनमें उठते हैं, जैसे-जैसे विचार उठते हैं तैसे-तैसे बार-बार देखता है। जैसे—कभी देखकर विचारता है कि ऐसे होकर इन्होंने विषमता क्यों की? फिर देखकर सोचने लगता है कि मुझे निरपराध क्यों मारा? मुझसे 'नीतिबुद्धिसे' पूछ क्यों न लिया? फिर देखकर मनमें कहता है कि सुग्रीव डरपोक है, वह इनका क्या कार्य करेगा; भला उसके किस गुणपर ये रीझे हैं; इत्यादि विचार करनेपर यही निश्चय किया कि इन्होंने जो कुछ किया वह सब शुभ हुआ (यथार्थ ही किया) अब मुझे इनके चरण ही ध्येय हैं। अथवा, (ग) बार-बार देखकर यह निश्चय कर रहा है कि इस समय इनके किस अङ्गका ध्यान करना मुझे कर्तव्य है। जब निश्चय कर चुका तब चरणोंमें चित्तको लगा दिया। बार-बार देखना तब बन्द हो गया।—(नोट—'*पुनि पुनि*' पद जनाता है कि वह एक बार देखता था फिर नेत्र नीचे कर लेता था वा बन्द कर लेता था, वा मुखारविन्दसे नेत्रोंको हटाकर दूसरे अङ्गोंको देखने लगता, फिर मुखारविन्दको देखता। वा, एक बार '*श्याम गात सिर जटा बनाए*' का दर्शन करता फिर चरणोंको देखने लगता, इसी प्रकार बार-बार देखता था। अथवा अनेक विचार उठते जाते हैं, प्रत्येक विचारके साथ पुनः देखता है जैसे '*कौसल्या पुनि पुनि रघुबीरहि। चितवति कृपासिंधु रनधीरहि॥ हृदय बिचारति बारहिं बारा। कवन भाँति लंकापति मारा।*' '*पुनि पुनि*' से एकटक देखनेका निराकरण हो जाता है।)

प० प० प्र०—१ भगवान्‌की मूर्तिको चित्तरूपी भीतिपर प्रेमरूपी मसिसे लिखनेका प्रयत्न करता है। सुफल न होनेपर '*पुनि पुनि चितव*', इस भावकी पुष्टि '*हृदय प्रीति*' से होती है।

प० प० प्र०—२ समग्र मूर्तिको हृदयमें बैठाना अपनी शक्तिसे असम्भव देखा तब चरणोंमें ही चित्त लगाया, उन्हींका ध्यान करने लगा।

टिप्पणी—१ (क) चरणमें चित्त दिया। यह दास्यभावसे किया; आगे यही वर माँगेगा यथा—'*जेहिं जोनि जन्मौं कर्मबस तहँ राम पद अनुरागऊँ।*' (ख) जन्म सुफल माना इस तरहकी ईश्वरकी प्राप्तिसे जीवका जन्म सुफल होता है सो ये अन्त-समय हमारे सामने खड़े हैं और इनकी कृपासे इनके चरणोंमें, मेरा मरणकालमें प्रेम भी है अतः मेरा जन्म सफल है। यथा—'*पावन प्रेम रामचरन जनम लाहु परम।*' (वि० १३१) (ग) '*प्रभु चीन्हा*' इति स्वरूपके श्रीवत्स आदि चिह्नोंको देखकर पहिचान लिया। अथवा, इस प्रकार पहिचाना कि बिना प्रभुके मुझे एक ही बाणसे कौन मार सकता है, यही बात अङ्गदने रावणसे कही है, यथा—'*सो नर क्यों दसकंध बालि हत्यो जेहिं एक सर।*'

हृदय प्रीति मुख बचन कठोरा। बोला चितइ राम की ओरा॥ ४॥
धर्म हेतु अवतरेहु गोसाईं। मारेहु मोहि ब्याध की नाईं॥ ५॥

अर्थ—वालीके हृदयमें प्रीति है, पर मुखमें कठोर वचन थे। श्रीरामजीकी ओर देखकर वह बोला॥ ४॥ हे गोसाईं! आपने धर्मके लिये अवतार लिया और मुझको व्याधकी तरह (छिपकर) मारा? तात्पर्य कि इस कार्यसे आपको किस धर्मका लाभ हुआ?॥ ५॥

नोट—१ वाल्मी० स० १७ श्लोक १६—५४ तक, अध्यात्म० स० २ श्लोक ५१—५९ तक वालीके कठोर वचन वर्णित हैं। कुछ यहाँ दिये जाते हैं—'**अर्थसंहितया वाचा गर्वितं रणगर्वितम्॥ पराङ्मुखवधं कृत्वा कोऽत्र प्राप्तस्त्वया गुणः। यदहं युद्धसंरब्धस्त्वत्कृते निधनं गतः॥**' (१५-१६) '"'**मामिहाप्रतियुध्यन्तमन्येन च समागतम्॥ त्वं नराधिपतेः पुत्रः प्रतीतः प्रियदर्शनः। लिङ्गमप्यस्ति ते राजन् दृश्यते धर्मसंहितम्॥ कः क्षत्रियकुले जातः श्रुतवान् नष्टसंशयः। धर्मलिङ्गप्रतिच्छन्नः क्रूरं कर्म समाचरेत्॥ त्वं राघवकुले जातो धर्मवानिति विश्रुतः। अभव्यो भव्यरूपेण किमर्थं परिधावसे॥ '"हत्वा बाणेन काकुत्स्थ मामिहानपराधिनम्। किं वक्ष्यसि सतां मध्ये कर्म कृत्वा जुगुप्सितम्॥**' (२५—२८, ३५) '"'**त्वया नाथेन काकुत्स्थ न सनाथा वसुन्धरा। प्रमदा शीलसम्पूर्णा पत्येव च विधर्मणा॥"'छिन्नचारित्र्यकक्ष्येण सतां धर्मातिवर्तिना। त्यक्तधर्माङ्कुशेनाहं निहतो रामहस्तिना॥ अशुभं चाप्ययुक्तं च सतां चैव विगर्हितम्। वक्ष्यसे चेदृशं कृत्वा सद्भिः सह समागतः॥"'अयुक्तं यदधर्मेण त्वयाहं निहतो रणे॥**' (४२, ४४-४५, ५२) पुनः, यथा—'**किं मयापकृतं राम तव येन हतोऽस्म्यहम्॥ राजधर्ममविज्ञाय गर्हितं कर्म ते कृतम्। वृक्षखण्डे तिरोभूत्वा त्यजता मयि सायकम्॥**' **यशः किं लप्स्यसे राम चोरवत् कृतसङ्गरः॥ सुग्रीवेण कृतं किं ते मया वा न कृतं किमु॥ धर्मिष्ठ इति लोकेऽस्मिन् कथ्यसे रघुनन्दन॥ वानरं व्याधवद्धत्वा धर्मं कं लप्स्यसे वद॥**' (अ० रा० २। ५१—५४, ५७-५८) अर्थात् वाली रणगर्वित श्रीरामचन्द्रजीसे अर्थयुक्त वचन बोला। दूसरेसे युद्ध करनेमें लगे हुएको छिपकर मारनेमें आपने कौन गुण देखा जो इस तरह मारा? आप राजाके पुत्र हैं, प्रियदर्शन हैं, धर्मके चिह्न भी आपमें वर्तमान हैं। कौन क्षत्रियकुलोद्भव, श्रुतवान्, संशयरहित, धर्मचिह्नयुक्त ऐसा क्रूर कर्म कर सकता है? तुम रघुवंशमें उत्पन्न हुए हो धर्मात्मा प्रसिद्ध हो, पृथ्वीपर सौम्यरूप धारण किये घूम रहे हो, पर क्रूर हो। मुझ अपराधीको मारकर सज्जनोंके बीचमें इस निन्दित कर्मका समर्थन कैसे करोगे? तुमको स्वामी पाकर यह पृथ्वी सनाथ नहीं हुई। जैसे विधर्मी पतिको पाकर शीलवती स्त्री सनाथ नहीं होती। चरित्रकी मर्यादाको तोड़ने, सत्पुरुषोंके धर्मका उल्लङ्घन करने, धर्मके अंकुशको हरानेवाले रामनामक हाथीसे मैं मारा गया। अमङ्गल, अनुचित सज्जनोंद्वारा निन्दित कर्म करके सज्जनोंसे मिलनेपर आप क्या कहेंगे? अधर्मसे मेरा वध किया यह अनुचित किया। (वाल्मी०) पुनः, (अ० रा०) अर्थात् मैंने आपका क्या अपकार किया जो आपने राजधर्मको न जानकर यह निन्दित कर्म किया। वृक्षसमूहमें छिपकर आपने मुझपर बाण छोड़ा, चोरकी तरह संग्राम किया, इससे आपको क्या यश प्राप्त होगा? सुग्रीवने आपका क्या (उपकार) किया और मैंने क्या नहीं किया (जो आपने उसका साथ दिया और मुझको मारा)। हे रघुनन्दन! आप इस लोकमें धर्मिष्ठ कहलाते हैं, व्याधकी तरह मुझ वानरको मारकर आपने क्या धर्म प्राप्त किया? सो कहिये।

टिप्पणी—१ (क) '*मुख बचन कठोरा*' इति। वालीको अपने बलका बड़ा अभिमान था। वह अभिमान (एक ही बाणसे मृतप्राय होनेके कारण) जाता रहा। अब उसको अपनी बुद्धिका अभिमान है। वह समझता है कि मेरे प्रश्नका उत्तर रघुनाथजी न दे सकेंगे। यथा—'**क्षमं चेद् भवता प्राप्तमुत्तरं साधु चिन्त्यताम्।**' (वाल्मी० १७। ५३) अर्थात् छिपकर मारना यदि आपके लिये उचित हो तो आप इसका उत्तर सोचें। '*चिन्त्यताम्*' शब्द साफ सूचित कर रहा है कि उसको अपनी बुद्धिका बड़ा अहंकार है, वह समझता है कि मैं इनका मुँह इस प्रश्नसे बन्द कर दूँगा। रामचन्द्रजीने उसे जवाब देकर निरुत्तर किया। यथा—'*बंधुबधूरत कहि कियो बचन निरुत्तर बालि।*'—(दो०) अतः यह भी अभिमान उसका चूर्ण हुआ। (ख) '*बोला चितइ*' का भाव कि उनके सन्मुख होकर अभिमानपूर्वक निर्भय वचन कहे। [पं०—हृदयमें अहंकार था। वह बाण लगनेसे दूर हुआ और अहंकारकी जगह प्रीति उत्पन्न हुई, चरणोंमें चित्त लगा और 'सुरमत्व धर्म' के कारण कुछ कोपका अंश शेष है। इससे कठोर वचन बोला। अथवा, सुग्रीव निकट खड़ा है, उसको सुनानेके लिये कठोर वचन कहे। इसपर शंका होती है कि अहंकार निवृत्त होनेपर कोप कैसे बना रहा? उत्तर यह है कि तनका स्वभाव तनपर्यन्त रहता है, जैसे खड्ग पारसके स्पर्शसे स्वर्णका हो जायगा, पर धार उसकी वैसी ही रहेगी।]

मा० प०— वालीके हृदयमें रामप्रेम परिपूर्ण है; परंतु मुखसे कठोर वचन बोला। कारण कि हृदयस्थ प्रेम न निबाहनेसे कृतघ्नता होती और यदि ऊपरसे कठोर वाणी न कहता तो श्रीरामचन्द्रजीकी श्रेष्ठ वाणीका सुख न मिलता।

वि० त्रि०—*'धर्म हेतु""नाईं'* इति। वाली उपालम्भ करता है कि *'धर्मसंस्थापनार्थ'* आपने अवतार ग्रहण किया और आपने स्वयं अपने हाथोंसे धर्मका हनन किया। मुझ निरपराधको आपने छिपकर मारा, जिस भाँति व्याधा छिपकर निरपराध जन्तुओंका वध करता है। मुझे मरनेका उतना कष्ट नहीं है क्योंकि वीरोंकी तो यही गति है, कष्ट भारी यह हुआ कि मैं अकस्मात् मारा गया और कुछ न कर सका। यह पीड़ा मृत्युकी पीड़ासे कहीं अधिक है। किसी धार्मिकको ऐसा नहीं करना चाहिये कि पुनः जिसने धर्मके लिये अवतार ग्रहण किया हो।

टिप्पणी—२ (क) *'गोसाईं'* में यह कटाक्ष है कि आप गो (पृथ्वी) के स्वामी हैं। इसीसे पृथ्वीका भार उतारनेके लिये अवतार लिया है; पर यह अधर्म करके आप स्वयं ही पृथ्वीके भार हुए। अथवा, पृथ्वीके स्वामी क्षत्रिय होकर भी आपने मुझे व्याधकी तरह मारा—यह क्षत्रियका धर्म नहीं है। अथवा, आप पृथ्वीके स्वामी हैं तथापि पृथ्वी अनाथ है क्योंकि अधर्मी राजाके रहते पृथ्वी सनाथ नहीं होती। (वाल्मी० १७। ४२)

वाली-वधका औचित्य

वाली-वधके विषयमें उपर्युक्त चौपाईको लेकर कुछ समालोचकोंने इसे आलोचनाका विषय बना लिया है और परब्रह्म परमात्मा मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके चरित्रमें इसको एक धब्बा माना है। इस विषयमें तीन प्रकारसे विचार किया जाना आवश्यक है।

१—भगवान् रामचन्द्रजीको निर्गुण-निराकार आदि विशेषणयुक्त परब्रह्म परमात्मा मर्यादापुरुषोत्तम मानकर, क्योंकि रामायणके सभी रचयिताओंने उनको अवतार मानकर ही चरित्र-चित्रण किया है।

२—राजनीतिकी दृष्टिसे, जिसमें अवतारसे कोई सम्बन्ध नहीं भी रख सकते हैं।

३—शरणागतवत्सलताको ही मुख्य कारण मानते हैं और यह दास भी उन्हींके विचारोंसे सहानुभूति रखता है। इसीसे इसको सबके अन्तमें रखा है।

अब प्रथम दृष्टि से विचार प्रकट किया जाता है। जो लोग भगवान् श्रीरामचन्द्रजीको अवतार मानते हैं (उनकी उपासना करते हों या नहीं, इससे हमें सरोकार नहीं), उनसे मेरा यह प्रश्न है कि 'क्या आप भगवान्के सारे कार्योंके दखल (प्रवेश) रखते हैं? क्या भगवान्के जितने चमत्कार क्षण-क्षणपर प्रकट होते हैं और जो पूर्वसे ही दिखायी दे रहे हैं, आपने उन सबको समझ लिया है? क्या पञ्चतत्त्वसे बनी हुई यह क्षुद्र बुद्धि उस सर्वशक्तिमान्के कार्योंके कारण समझने-सोचनेमें समर्थ हुई है? गर्भमें बच्चा क्यों उलटा रहता है? यह संसार क्यों रचा गया? अमुक वृक्षके पत्तोंमें क्यों ऐसे चिह्न हैं और अमुकमें दूसरे आकार क्यों हैं? तारागण कितने हैं, कहाँतक हैं? पहले वृक्ष हुआ या बीज? इत्यादि-इत्यादि जिसकी अद्भुत करनी है जो—*'बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। बिनु कर करम करइ बिधि नाना॥ अस सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहिं बरनी॥'* क्या उसको समझनेमें आप अपनेको समर्थ पाते हैं? क्या आपने पूर्वोक्त प्रश्नोंके उत्तर कभी सोचे और कुछ निश्चय किया है? आज जो एक Theory निकलती है, कुछ वर्ष बाद वह पलट जाती है। जिसे लोग आज एक बातका ठीक उत्तर समझते हैं उसीको कुछ दिन वे ही लोग गलत मानते हैं। क्या यह बात ठीक नहीं है? ऐसी हालतमें दासकी क्षुद्रबुद्धिमें यही आता है कि भगवान्के कार्यमें संदेह करना उचित नहीं। उनके कार्य समयानुकूल और बहुत ही ठीक होते हैं, ये सदा अच्छा ही करते हैं। उनके सब कार्य यदि हमारी समझमें आ जायँ तो उनका सर्वशक्तिमत्ता-गुण ही कहाँ रह गया? अन्य मतावलम्बियोंने भी यही मत प्रकट किया है—

'हरकि आमद इमारते नौ साख्त। रफ़्तो मंज़िल बदीगरे परदाख्त॥'

अर्थात् जो आया उसने एक नयी इमारत खड़ी की, पर चला गया और मंजिल दूसरोंके लिये खाली कर गया। तात्पर्य कि जो आता है अपनी अक्ल लड़ाता है और चला जाता है, कोई भी पार न पा सका। वही ईसामसीहका शूलीपर चढ़ाना, जिसको ईसाई कुछ वर्ष पूर्व कमजोरी और अपने मतपर एक धब्बा समझते थे, आज अपने लिये एक बड़े भारी गौरव और बल यानी मुक्ति (Salvation) का कारण समझते हैं।

जब भगवान् श्रीराचन्द्रजी साक्षात् परमेश्वर हैं और यह उनका मर्यादापुरुषोत्तम अवतार है तब उनके चरितपर संदेह कैसा? उनका कोई भी चरित ऐसा नहीं हो सकता जो मर्यादापुरुषोत्तमत्वपर धब्बा डाल सके।

☞रामायणके पाठकोंके लिये महात्मा गाँधीका संदेश बहुत उपयुक्त समझकर यहाँ उद्धृत किया जाता है। वे लिखते हैं कि जिसके दिलमें इस सम्बन्धकी शङ्काएँ शुद्ध भावसे उठें उन्हें मेरी सलाह है कि वे मेरे या किसी औरके अर्थको मन्त्रवत् स्वीकार न करें। जिस विषयमें हृदय शंकित हो उसे छोड़ दें। सत्य, अहिंसादिकी विरोधिनी किसी वस्तुको स्वीकार न करें। रामचन्द्रने छल किया इसलिये हम छल करें, यह सोचना औंधा पाठ पढ़ना है। यह विश्वास रखकर कि रामचन्द्रजी कभी छल कर ही नहीं सकते, हम पूर्णपुरुषका ही ध्यान करें और पूर्ण ग्रन्थका पठन-पाठन करें। परंतु '**सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः**' न्यायानुसार सब ग्रन्थ दोषपूर्ण हैं, यह समझकर हंसवत् दोषरूपी नीरको निकाल फेंके और गुणरूपी क्षीर ही ग्रहण करें। इस तरह अपूर्ण-पूर्णकी प्रतिष्ठा करना, गुण-दोषका पृथक्करण करना, हमेशा व्यक्तियों और युगोंकी परिस्थितिपर निर्भर रहेगा। स्वतन्त्र सम्पूर्णता केवल ईश्वरमें ही है और वह अकथनीय है।

अब यहाँ कुछ महानुभावोंके विचार उद्धृत किये जाते हैं जिन्होंने इस चरितको धब्बा मानकर उसकी यथार्थता बतायी है अथवा लोगोंकी इस शंकाका समाधान किया है।

पं० रा० चं० शुक्ल—रामके चरित्रकी इस उज्ज्वलताके बीच एक धब्बा भी दिखायी देता है। वह है वालीको छिपकर मारना। वाल्मीकि और तुलसीदासजी दोनोंने इस धब्बेपर कुछ सफेद रंग पोतनेका प्रयत्न किया है। पर हमारे देखनेमें तो यह धब्बा ही सम्पूर्ण रामचरितको उच्च आदर्शके अनुरूप एक कल्पनामात्र समझे जानेसे बचाता है। यदि एक यह धब्बा न होता तो रामकी कोई बात मनुष्यकी-सी न लगती और वे मनुष्योंके बीच अवतार लेकर भी मनुष्योंके कामके न होते। उनका चरित भी उपदेशक महात्माओंकी केवल महत्त्वसूचक फुटकर बातोंका संग्रह होता, मानव-जीवनकी विशद अभिव्यक्ति सूचित करनेवाले सम्बद्ध काव्यका विषय न होता। यह धब्बा ही सूचित करता है कि ईश्वरावतार राम हमारे भाई-बन्धु बनकर आये थे और हमारे ही समान सुख-दुःख भोगकर चले गये। वे ईश्वरता दिखाने नहीं आये थे। भूल-चूक या त्रुटिसे सर्वथा रहित मनुष्यता कहाँ होती है? इसी एक धब्बेके कारण हम उन्हें मानव-जीवनसे तटस्थ नहीं समझते—तटस्थ क्या कुछ भी हटे हुए नहीं समझते।

जामदारजी—वाली-वध इस काण्डकी एक और विशेषता है। विशेषता कहनेका कारण यह है कि वाली-वधके सम्बन्धमें श्रीरामजीपर कपटका दोष लगाया जाता है। आजकल तो विचारकी यह एक परिपाटी-सी हो गयी है। उसके मूलमेंके *'बिटप ओट'* और *'ब्याधकी नाईं'* ये पद आधारभूत दिखलाये जाते हैं। आक्षेप ठीक है या नहीं, इसका अब थोड़ा विचार करें।

कपटका दोष सबसे प्रथम वालीने ही लगाया था और वह उस समय लगाया था जब वह पूरा परास्त और मरणोन्मुख होनेके कारण बिलकुल ही क्रोधसे भरा था। यहाँ मुख्य देखना यह है कि वाली मरता जाता था तो भी उसका अहंकार ज्यों-का-त्यों जीता ही जागता था। इसका प्रमाण हम वाली-निधन-वर्णनके पहले छन्दमेंके *'मोहि जानि अति अभिमान बस'* इन वालीके ही शब्दोंसे लेते हैं। इस अभिमानके वश होकर *'धर्म हेतु अवतरेउ गुसाईं। मारेउ मोहि ब्याधकी नाईं॥'* इस तरह वालीने प्रश्न किया।

अभिमानी प्रकृतिकी '**गुणाः पदं न कुर्वन्ति ततो निन्दा प्रवर्तते**' यह स्वभावसिद्ध प्रवृत्ति रहती है क्या

वालीकी दृष्टिसे देखना हमारे लिये भी ठीक होगा? आक्षेपार्ह दो पदोंमेंसे एक *'तरु ओट'* है। सभी संहिताएँ एकमतसे यही प्रतिपादन करती हैं। इसलिये इसके सम्बन्धमें किसीको भी फरक करनेका हक नहीं, पर केवल एक इसी बातपर बिलकुल निर्भर रहकर कपटका दोष आरोपित करना सुविचारका लक्षण नहीं कहा जा सकता।

दूसरा पद *'ब्याधकी नाईं'* है। यथार्थमें यह पद निर्घृणताका दर्शक है, क्योंकि व्याधकर्म अवश्य ही निर्दयताका होता है। पर यह नहीं कहा जा सकता कि वह सदा कपट ही भरा रहता है। इसलिये व्याध शब्दसे दशाशून्यत्व लेना होगा।

आक्षेप करनेवाले पक्षके लोग व्याध शब्दसे कपटभाव लिया करते हैं। हमारे मतसे जिस व्यवहारके सम्बन्धमें जिस विषयका प्रकाशन करना अत्यावश्यक रहता है, उस व्यवहारके सम्बन्धमें, उस विषयका आच्छादन जब किसीसे जान-बूझकर किया जाता है, तभी यह क्रिया 'कपट' कहलाती है।

इस व्याख्यानुसार अपनेको जान-बूझकर छिपाकर यदि रामजीने वालीपर बाण चलाया होता, तो उनपर कपटका अपराध अवश्य ही प्रमाणित हो सकता। परंतु मूल-ग्रन्थ ही स्पष्ट कहता है कि यद्यपि वाली मैदानमें डटा हुआ प्रत्यक्ष सामने खड़ा था तो भी, रामजीने *'एक रूप तुम्ह भ्राता दोऊ। तेहि भ्रम ते नहिं मारेउँ सोऊ॥'* ऐसा कहकर तुरंत ही *'कर परसा सुग्रीव सरीरा'* और *'मेली कंठ सुमन की माला। पठवा पुनि बलदेइ बिसाला॥'* इस प्रकारसे सुग्रीवको फिर भेजा। इस वर्णनसे यह सोपपत्तिक सिद्ध हुआ कि अपनेको छिपाना तो दूर ही रहा, उलटे और वालीकी ही दृष्टि अपनी ओर खींचनेका खास और निःशङ्क प्रयत्न रामजीने जान-बूझकर किया। स्मरण रहे कि *'मैं चीन्ह नहीं सका'* यह केवल औपचारिक निमित्त बतलाते हुए प्रत्यक्ष पक्षपात बतलानेके लिये और वालीकी दृष्टि उस तरफ खींचनेके लिये श्रीरामजीने सुग्रीवको पुष्पमाला पहनायी थी।

आक्षेप करनेवालोंका अब ऐसा भी दर्शानेका प्रयत्न होगा कि वालीने रामजीके किसी भी कार्यकी ओर—सुग्रीवके गलेमेंकी मालाकी ओर भी—दृष्टिक्षेप न किया। पर एक तो यह कहना ही सयुक्तिक नहीं है, क्योंकि वाली कुछ आँखें मूँदकर नींदमें अथवा समाधिमें नहीं लड़ रहा था। और दूसरे यदि वालीने देखा ही नहीं या देखनेकी परवा न की, तो यह किसका दोष है? यह साफ-साफ उसका ही दोष है।

इन सब बातोंका इस प्रकार विचार करनेपर रामजीके ऊपर लगाया गया कपटका आक्षेप हमारे मतसे अनुपपत्तिक है।

पांडेजी—गोस्वामीजीने इस काण्डका प्रारम्भ *'आगे चले बहुरि रघुराई'* इस चरणसे किया है। प्रारम्भमें ही *'रघुराई'* नाम देनेका भाव यह है कि इस काण्डमें राजधर्मको प्रधान करेंगे। जब सुग्रीवने अपनी विपत्ति और वालीके अन्यायका वर्णन किया तब रघुनाथजीने दोनोंमें न्यायपूर्वक निर्णय न करके जानकीजीके पता लगानेमें अपना अर्थ विचार सुग्रीवका पक्ष लेकर वालीका वध किया, यही राजधर्म है, अपने धर्मके लिये न्यायको नहीं देखते इसीसे *'रघुराई'* पद दिया। फिर आगे चलकर *'सुनि सेवक दुख दीनदयाला। फरकि उठी दोउ भुजा बिसाला॥'* में *'दीनदयाला'* शब्द लेकर गोस्वामीजी वाली-वधदोषको रघुनाथजीपरसे दूर करते हैं। पुनः रघुनाथजी मानुषी चरित्र कर रहे हैं। मनुष्यको आपत्तिसे उबारनेका उपाय करना उचित है और समयानुकूल बरतना परम राजधर्म है। इसीसे गोस्वामीजीने काण्डके प्रारम्भमें *'रघुराई'* शब्द लिखा है।

राजनीतिकी दृष्टिसे विचार

किसी बातकी ठीक समालोचना और जाँच तभी हो सकती है जब समालोचक अपनेको उस समयमें पहुँचा दे जिस समयकी वह घटना है, जो समालोचनाका विषय है। वही समाजसुधार-सम्बन्धी बातें जो एक शताब्दिकके पूर्व घृणासे देखी जाती थीं, आज उचित समझी जाती हैं, वही मनुष्योंका बेचना, गुलाम बनाना, बाल-विवाह आदि जो पहले अच्छे समझे जाते थे आज बुरे समझे जाते हैं। ऐसे ही आज संसारमें आपके सामने अनेक उदाहरण हैं समझ लीजिये। जो बात पहले किसी समयमें नीतियुक्त समझी जाती थी उसीको आज अनीति कहा जाता है।' ऐसी स्थितिमें क्या हम अपनेको सच्चे समालोचक कह सकते

हैं यदि हम उस समयकी घटनाकी यथार्थता वर्तमानकालकी नीतिसे जाँचे? मेरी समझमें तो कदापि नहीं।

हमको वाली-वधपर आलोचना करनेके लिये त्रेतायुगकी नीतिका अवलम्बन करना पड़ेगा। उस समयकी नीति अध्यात्म, वाल्मीकि आदिमें भी इस समयके प्रसंगपर दी हुई है और मनुस्मृतिका प्रमाण भी दिया गया है। यथा—

'तदेतत्कारणं पश्य यदर्थं त्वं मया हतः। भ्रातुर्वर्तसि भार्यायां त्यक्त्वा धर्मं सनातनम्॥
अस्य त्वं धरमाणस्य सुग्रीवस्य महात्मनः। रुमायां वर्तसे कामात् स्नुषायां पापकर्मकृत्॥
न च ते मर्षये पापं क्षत्रियोऽहं कुलोद्गतः। औरसीं भगिनीं वापि भार्यां वाप्यनुजस्य यः॥
प्रचरेत नरः कामात् तस्य दण्डो वधः स्मृतः। भरतस्तु महीपालो वयं त्वादेशवर्तिनः॥

(वाल्मी० १८। १८-१९, २२-२३)

अर्थात् तुमने धर्मका त्याग किया। छोटे भाईके जीते-जी उसकी स्त्रीको अपनी स्त्री बना लिया। इसके लिये प्राण-दण्ड ही विधेय है…। वही बात गोस्वामीजीने भी कही है—

अनुजबधू भगिनी सुतनारी। सुनु सठ कन्या सम ए चारी॥
इन्हहिं कुदृष्टि बिलोकहि जोई। ताहि बधे कछु पाप न होई॥

यह भी स्मरण रखनेयोग्य है कि श्रीरामचन्द्रजीने कुछ वालीको उत्तर देते समय ही यह बात नहीं कही है वरन् उसके बहुत पूर्व ही जब उनको सुग्रीवसे मालूम हुआ कि वाली उसका बड़ा भाई है और उसने मेरी स्त्री भी छीन ली, उसी समय इस दुष्ट चरित्रको सुनकर उनकी त्योरी बदल गयी और उन्होंने तुरंत यही कहा कि—**'यावत्तं नहि पश्येयं तव भार्यापहारिणम्। तावत्स जीवेत्पापात्मा वाली चारित्रदूषकः॥'** (वाल्मी० १०। ३३) दूषित चरित्रवाले अर्थात् मर्यादा नष्ट करनेवाले वालीको तभीतक जीवित समझो जबतक मैं नहीं देखता। वे मर्यादाका उल्लङ्घन, हिंदू-संस्कृतिकी अवहेलना कैसे सह सकते? वह अवतार ही 'श्रुतिसेतु' की रक्षाके लिये हुआ था।

वालीको श्रीरामचन्द्रजीका ईश्वरावतार होना अवगत है। वह जानता है कि सुग्रीवसे उनकी मित्रता हो गयी है और वे उसकी रक्षामें तत्पर हैं। ताराने वालीको समझाया और प्रार्थना की कि सुग्रीवसे मेल कर लो, वैर छोड़कर उसे युवराज बना दो, अन्यथा तुम्हारी रक्षाका दूसरा उपाय नहीं है—**'नान्या गतिरिहास्ति ते।'** (वाल्मी० १५। २८) पर उसने अभिमानवश उसका कहा न माना और यही कहकर टाल दिया कि वे धर्मज्ञ हैं पाप क्यों करेंगे, वा (मानसके कथनानुसार) वे समदर्शी हैं, एवं ***'जौं कदाचि मोहि मारिहिं तौ पुनि होउँ सनाथ।'*** प्रभुने वालीको पहिली बार नहीं मारा। उसको बहुत मौका दिया कि वह सँभल जाय, सुग्रीवसे शत्रुभाव छोड़ दे और उससे मेल कर ले, पर वह नहीं मानता। दूसरी बार अपना चिह्न देकर फिर भी करुणावरुणालय अकारणकृपालु भगवान्ने उसे होशियार किया कि सुग्रीव मेरे आश्रित हो चुका है; यह जानकर भी—***'मम भुजबल आश्रित तेहि जानी'***—उसने श्रीरामचन्द्रजीके पुरुषार्थकी अवहेलना की, उनका अत्यन्त अपमान किया, उनके मित्रके प्राण लेनेपर तुल गया तब उन्होंने मित्रको मृत्युपाशसे बचानेके लिये उसे मारा। इसमें 'विटप ओट' से मारनेमें क्या दोष हुआ!

यदि इसमें अन्याय होता हो रामजी कदापि यह न कह सकते कि छिपकर मारनेके विषयमें न मुझे पश्चात्ताप है न किसी प्रकारका दुःख—**'न मे तत्र मनस्तापो न मन्युर्हरिपुङ्गव॥'** (वाल्मी० ४। १८। ३७) देखिये कि जो रामजीसे इसका उत्तर माँग रहा है कि ***'धर्म हेतु अवतरेहु गोसाईं। मारेहु मोहि ब्याध की नाईं॥'*** वह उत्तर पाकर स्वयं कहता है कि मैं निरुत्तर हो गया, आपने अधर्म नहीं किया, यथा— **'न दोषं राघवे दध्यो धर्मेऽधिगतनिश्चयः॥ प्रत्युवाच ततो रामं प्राञ्जलिर्वानरेश्वरः। यत्त्वमात्थ नरश्रेष्ठ तत्तथैव न संशयः॥'** (४४-४५) अर्थात् उत्तर सुनकर उसने धर्मको निश्चय जानकर राघवको दोष नहीं दिया और हाथ जोड़कर बोला कि आपने जो कहा वह ठीक है, इसमें सन्देह नहीं।

जब स्वयं वाली ही यों कह रहा है तब हमको आज श्रीरामजीके चरितपर दोषारोपण करनेका क्या हक है?

अच्छा, अब आजकलकी नीति भी लीजिये। उसके अनुसार भी देखिये। क्या जो राजा किसी राजासे मिलता है वह उसकी सहायता छोड़ देता है? क्या आज खाईं (trenches)आदिमें जान-बूझकर एवं रात-बिरात छिपकर एकाएक धोखा देकर, शत्रुपर छल-कपटके व्यवहार लड़ाईमें जायज नहीं माने जा रहे हैं? शत्रुको जिस तरह हो सके मारना वा पराजय करना यही आजकलकी एकमात्र नीति है। इस नीतिके सामने तो रामजी उत्तरदायित्वसे सर्वथा मुक्त हैं। आजकल तो लड़ाईमें धर्म-अधर्मका कहीं विचार ही नहीं है। क्या आजकलकी छल-कपट-व्यवहारपूर्ण नीतिको देख-सुनकर भी आपको वाली-वधमें अनौचित्य दिखायी देगा?

बाबा रामप्रसादशरणजीने लिखा है कि वाली रावणका मित्र था जैसा कि रावणप्रति अङ्गदवाक्यसे स्पष्ट है—'***मम जनकहि तोहि रही मिताई।***' वैरीका मित्र वैरी ही है। यही बात पं० श्रीराजेन्द्रनाथजी विद्याभूषणने लिखी है। वे लिखते हैं कि—'दण्डकारण्यमें शूर्पणखाको भेजकर रावण निश्चिन्त था। क्योंकि उसके समुद्र पार लङ्कामें रहनेपर भी उसका अभिन्नहृदय मित्र वीरश्रेष्ठ वाली तो दण्डकके समीप ही राज्य करता था। वालीकी जानकारीमें रावणकी और रावणकी जानकारीमें वालीकी कोई क्षति नहीं हो सकती थी या उनपर कोई आपत्ति नहीं आ सकती थी। वे दोनों अग्निको साक्षी देकर सन्धिसूत्रमें बँध चुके थे। इस पार वालीका साम्राज्य था और उस पार रावणका, बीचमें था विराट् समुद्र। इस पारसे रावणके राज्यपर आक्रमण करनेवालेको सबसे पहले वालीके साथ युद्ध करना होगा और उस पारसे वालीके राज्यपर आक्रमण करनेवालेके साथ सर्वप्रथम रावणका युद्ध होना अनिवार्य था…(वाल्मी० ७। ३४। ४०—४३)।…शूर्पणखाने रामके पूछनेपर साफ कह दिया था कि रावण, कुम्भकर्ण, विभीषण, खरदूषण आदि मेरे भाई हैं। ऐसी अवस्थामें रावणकी बहनके नाक-कान काटनेका कितना भयङ्कर परिणाम हो सकता है, राजनीतिविशारद श्रीरामके लिये इस बातको समझना बाकी नहीं था।…अब यह भी मालूम होता है कि सीताहरणके बाद सहायताके लिये श्रीराम सुग्रीवके साथ मैत्री करनेके लिये तैयार न भी होते और वालीको मारकर सुग्रीवको फिरसे राजगद्दीपर बैठानेकी प्रतिज्ञा न करते, तो भी उन्हें वालीको तो मारना ही पड़ता। समुद्रके उस पार लंकापतिपर आक्रमण करनेके लिये सारा उद्योग इस पार वालीके राज्यमें ही करना था। रावणबन्धु महावीर वाली मित्रके विरुद्ध रणसज्जाको कभी सहन नहीं कर सकता। सन्धिसूत्रके अनुसार रावणका शत्रु वालीका भी शत्रु था।…अतएव रामका सर्वप्रथम कर्त्तव्य हो गया था—वालीको पराजित करना। इसीलिये श्रीरामचन्द्रने एक दक्ष राजनीतिज्ञकी भाँति आगे-पीछेकी सारी बातोंको सोच-समझकर सुग्रीवके साथ मैत्री और वाली-वधकी प्रतिज्ञा करके करोड़ों वानर-सेनाकी सहायतासे कर्तव्यसम्पादनका निश्चय किया था। जीवनके प्रारम्भमें राजपुत्र राम अपनी प्यारी जन्मभूमिको छोड़कर जानेको बाध्य हुए थे। प्रकृतिके लीलानिकेतन निविड दण्डकारण्यमें नवीन और विशाल साम्राज्य स्थापनके लिये ही कृतसंकल्प होकर श्रीरामने दण्डकमें प्रवेश किया था। वे वीर थे। उनके लिये कोई भी कार्य दुष्कर नहीं था। वे प्रसन्न-चित्तसे आनन्दके साथ दिन बिता रहे थे। इसी बीचमें सीताका अपहरण होनेसे रावणके साथ युद्धका उद्योग करना पड़ा और उसीके अङ्गीभूत आवश्यक कर्तव्योंमें वाली-वध भी एक कर्तव्य था। अतएव रामपर किसी प्रकार भी दोषारोपण नहीं किया जा सकता। ….सीताके उद्धारके लिये सबसे पहले वालीका वध अत्यन्त आवश्यक था। प्रसङ्गवश इस वाली-वधके उपलक्ष्यमें सुग्रीवके साथ मैत्री हो गयी जिससे समुद्रबन्धन आदि कठिन कार्य बहुत कुछ सहज साध्य हो गये।

नोट—इस विचारको प्रथम अपने लेखमें देना इससे उचित न समझा था कि यह बात वाली-वध प्रकरणभरमें कहीं भी (वाल्मीकीय, अध्यात्म, हनुमन्नाटक या मानसमें) किसी ओरसे गुप्त या प्रकट किसी प्रकारसे नहीं दर्शायी गयी। शूर्पणखा वालीके पास क्यों न गयी? जनस्थान राक्षसोंसे खाली हो गया, पर वालीने कोई मित्रकी सहायता न की। मानस और अध्यात्मसे विरोध भी होता है। और यहाँ रामचरितमानसका ही अधिक आधार लेना है। वाल्मीकीयमें वालीने कहा है कि मुझसे मिलते तो मैं क्षणमात्रमें रावणको पकड़कर सीतासहित आपके सामने उपस्थित कर देता। फिर वालीको उत्तर देते समय यह उत्तर तो बहुत

अच्छा था कि तू रावणका मित्र है, तुझे मारना हमारा कर्तव्य था, पर इस उत्तरकी गन्ध भी यहाँ नहीं पायी जाती। और मानससे तो वालीका रामभक्त होना भी पाया जाता है। इत्यादि कई विचारोंसे इस राजनीतिक विचारको प्रकट न किया था, यद्यपि बाबा रामप्रसादशरणजीने इसको लिखा भी था। कल्याणमें यह लेख पढ़कर उसको भी दे दिया है। पर इसमें *'बिटप ओट'* पर कुछ नहीं है।

यद्यपि मेरी समझमें तो जब वाली स्वयं अपनेको निरुत्तर मानता है तब हमको उसके उत्तरके अनुसंधानकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती, तथापि लोगोंकी शङ्काओंके समाधान और तरह भी हो सकते हैं—

१—श्रीरामजी सत्य-प्रतिज्ञ हैं। यह त्रैलोक्य जानता है कि राम दो वचन कभी नहीं कहते, जो वचन उनके मुखसे एक बार निकला, वह कदापि असत्य नहीं किया जा सकता। वे मित्र सुग्रीवका दुःख सुनकर प्रतिज्ञा कर चुके हैं कि *'सुनु सुग्रीव मारिहौं बालिहि एकहि बान।'* और यह भी कि *'सखा बचन मम मृषा न होई।'* वाल्मी० में भी उन्होंने यही कहा—'**अनृतं नोक्तपूर्वं मे न च वक्ष्ये कदाचन। एतत्ते प्रतिजानामि सत्येनैव शपाम्यहम्**॥' (७। २२) अर्थात् मैं झूठ कभी नहीं बोला और न आज ही बोलता हूँ। मैं सत्यको साक्षी देकर तुम्हारे सामने शपथ करता हूँ। व्याधा भयसे नहीं छिपता। मुख्य कारण यह होता है कि कहीं शिकार उसे देखकर हाथसे जाता न रहे। यहाँ 'बिटप ओट' से इसलिये मारा कि—यदि कहीं वाली हमको देखकर भाग गया अथवा छिप गया, (अथवा, शरणमें आ पड़ा—यह बात आगे लिखी गयी है) तो प्रतिज्ञा भङ्ग हो जायगी (एक ही बाणसे मारनेकी प्रतिज्ञा है)। सुग्रीवको स्त्री और राज्य कैसे मिलेगा? पुनः, यदि सामने आकर खड़े होते तो बहुत सम्भव था कि वह सेना आदिको सहायताके लिये लाता। यह आपत्ति आती कि मारना तो एक वालीको ही था, पर, उसके साथ मारी जाती सारी सेना भी। स्मरण रहे कि यहाँ छिपनेमें कपटका लेश भी नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा होता तो प्रतिज्ञा पूर्ण होनेके बाद वालीके शरणागत होनेपर श्रीरामजी यह कैसे कहते कि *'अचल करउँ तन राखहु प्राना।'*

२—वाली जीसे चाहता था कि मेरा वध भगवान्‌के हाथोंसे हो, यथा—'**त्वत्तोऽहं वधमाकाङ्क्षन् वार्यमाणोऽपि तारया।**' (वाल्मी० १८। ५७) अर्थात् आपके द्वारा अपने वधकी इच्छासे ही ताराद्वारा रोके जानेपर भी सुग्रीवसे युद्ध करनेके लिये मैं आया था। यही बात मानसके *'जौं कदाचि मोहि मारिहिं तौ पुनि होउँ सनाथ'* से भी लक्षित होती है। सामने आनेपर भला उसकी यह अभिलाषा कैसे पूर्ण होती? भगवान् अन्तर्यामी हैं, उन्होंने उसकी हार्दिक अभिलाषा (जिसका वालीको छोड़कर और किसीको पता भी न था) इस प्रकार पूर्ण की।

३—यद्यपि भगवान् सब कुछ करनेमें समर्थ हैं, उनकी इच्छामें कोई वर या शाप बाधक नहीं हो सकता, तथापि यह उनका मर्यादापुरुषोत्तम अवतार है। मानसमयङ्ककार एवं और भी कुछ सज्जनोंका मत है कि वालीको किसीका वरदान था कि जो तेरे सम्मुख लड़नेके लिये आवेगा उसका आधा बल तुमको मिल जायेगा। प्रभु सबकी मर्यादा रखते हैं इसीसे रावणवधके लिये नरशरीर धारण किया; नहीं तो जो कालका भी काल है क्या वह बिना अवतार लिये ही रावणको मार न सकता था? जिसके एक सीकास्त्रसे देवराजके पुत्रको त्रैलोक्यमें शरण देनेवाला कोई न मिला, क्या वह सीताके उद्धारके लिये वानरकटक एकत्र करता? सुग्रीवसे मित्रता करता? नागपाशमें अपनेको बँधवाता? इत्यादि। वह रावणको अवश्य साकेत वा वैकुण्ठमें बैठे ही मार सकता था—पर देवताओंकी मर्यादा, उनकी प्रतिष्ठा जाती रहती। उनके वर और शापका कोई महत्त्व नहीं रह जाता। इसीलिये तो श्रीरामदूतने भी ब्रह्मका मान रखा और अपनेको नागपाशसे बँधवा लिया—*'जौं न ब्रह्मसर मानिहौं महिमा मिटै अपार।'* अतएव ओटसे मारकर वरकी मर्यादा रखी। ☞ अब पाठक निष्पक्ष हृदयसे विचार करें कि भगवान्‌का धर्मयुक्त कार्य इसमें हुआ कि उन्होंने देवताओंके वरदानकी मर्यादा रखी और गाली सहकर भी उसे ओटसे ही मारा, या कि, उनकी प्रशंसा देवमर्यादा मिटा देनेमें होती?

४—पं० शिवरत्न शुक्लजी लिखते हैं कि 'वृक्षकी आड़से मारनेका कारण वालीको अकेला पाना था। अर्थात् नियत स्थलके उस अंशमें वाली सुग्रीवसे युद्ध करके लौटता और फिर वेगके साथ सुग्रीवकी ओर

दौड़ता था। अतएव उसी स्थानका लक्ष्य वृक्षकी ओरसे किया गया था कि जिसमें भूलसे भी सुग्रीवके बाण न लगे; क्योंकि उस स्थानपर वाली अकेला था। यही कारण वृक्षकी ओटमें खड़े होनेका है। लोग कहते हैं कि वाली सम्मुख युद्ध करनेवाले वीर योद्धाका आधा बल हर लेता था; पर रामजीके साथ वह ऐसा नहीं कर सकता था। क्योंकि समुद्रका खारा जल जैसे एक घड़ेमें भरा नहीं जा सकता वैसे ही वालीकी शक्तिरूपी पात्रमें भुवनेश्वरका अर्द्धबल भी नहीं समा सकता था, अस्तु, यह शंका निर्मूल है।

शरणागत-वत्सलता एवं सत्यसन्धता

श्रीरामचन्द्रजीके चरित्रमें उनका पूर्ण ऐश्वर्य और परब्रह्मत्व सबसे अधिक उनके शरणागत-वत्सलता गुणसे प्रकट होता है। इसी गुणने भक्तोंको रिझा रखा है। प्रायः सर्वत्र श्रीरामचन्द्रजीने अपने ऐश्वर्यको छिपाया है। पर विभीषणजीके शरणागतिके समय जब एक श्रीहनुमान्‌जीको छोड़ सुग्रीव, जाम्बवान्, अङ्गद आदि सभीने उनको शरणमें न लेनेका मन्त्र दिया; तब सुग्रीवको प्रभुने अनेक प्रकारसे समझाया और अन्ततोगत्वा उन्हें यह कहना ही पड़ा कि 'तुम मेरे प्रभावको नहीं जानते, मैं अंगुलीके अग्रभागके इशारेसे त्रैलोक्यका नाश कर सकता हूँ, थोड़ेसे राक्षस तो चीज ही क्या हैं? पर मैं शरणागतको नहीं छोड़ सकता, चाहे मेरा सर्वस्व नाश क्यों न हो जाय।' वाल्मीकि आदि रामायणोंमें शरणागतिपर प्रभुके बहुत कुछ वचन हैं। प्रभुने यहाँतक कह दिया कि 'यह क्या, यदि वह रावण भी हो और वह मेरी शरण (कपटवेषसे ही) आया हो तो भी मैं उसे अभय देता हूँ, तुम उसे लिवा लाओ।' देखिये, श्रीलक्ष्मणजीको शक्ति लगी, पर ऐसे दारुण शोकके समय भी उन्हें सीताजी या और किसीकी चिन्ता नहीं है; लक्ष्मणजीका भी शोक है, तो इसी कारण कि विभीषण हमारी शरण आया हुआ है, अब हम उसका मनोरथ कैसे पूरा करेंगे। गीतावलीमें श्रीरामजी कहते हैं।

'मेरो सब पुरुषारथ थाको। बिपति बँटावन बंधु बाहु बिन करौं भरोसो काको॥ १॥
सुनु सुग्रीव साँचहू मोसन फेर्‌यो बदन बिधाता। ऐसे समय समर संकट हौं तज्यो लषन सो भ्राता॥ २॥
गिरि कानन जैहहिं शाखामृग हौं पुनि अनुज सँघाती। ह्वै है कहा बिभीषन की गति रही सोच भरि छाती॥ ३॥

यहाँपर शरणागतिपर जैसा प्रबल और दृढ़ भगवद्वचनामृत है, वैसा शायद ही और कहीं मिले—

'कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आए सरन तजउँ नहिं ताहू॥
सन्मुख होइ जीव मोहि जबहीं। जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं॥
जौं सभीत आवा सरनाईं। रखिहौं ताहि प्रान की नाईं॥'

'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥'
'मित्रभावेनसम्प्राप्तं न त्यजेयं कथञ्चन। दोषो यद्यपि तस्य स्यात् सतामेतदगर्हितम्॥'

इसी तरह भगवान्‌ने अपने श्रीकृष्णावतारमें भी कहा है—

'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥'
'अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥'

यही वाक्य आज भगवद्भक्तोंकी, अनेक समाजों, पन्थों, मतवादियोंसे रक्षा कर रहे हैं। इसी जगह आकर अन्य मतवादी हिंदू भाई दाँत-तले उँगली दबा लेते हैं, नहीं तो अवतार-खण्डन तो वे करते ही रहे और करते भी हैं।

सुग्रीव वालीसे बहुत कमजोर है। वह स्वयं कहता है कि *'ताके भय रघुबीर कृपाला। सकल भुवन मैं फिरेउँ बिहाला॥'* यही कारण है कि श्रीसीताजीकी खोजमें जब उसने वानरोंको भेजा, तब चारों दिशाओंकी अन्तिम सीमातकके नाम उसने वानरोंसे बताये। वालीसे संसारभरमें उसका कोई रक्षक न हुआ।—*'बालित्रास ब्याकुल दिन राती। तन बहु ब्रन चिंता जर छाती॥'* ऐसा सुग्रीव जब प्रभुकी शरण हुआ, उससे प्रभुने मित्रता की और उसका दुःख सुनकर एवं यह जानकर कि वालीने उसका सर्वस्व हर लिया, उनसे रहा

न गया। वालीके अधर्मको वे सह न सके। यद्यपि वालीने उनका कोई निजी अपराध नहीं किया था तो भी *'सेवक बैर बैर अधिकाई।'* मित्रका शत्रु अपना ही शत्रु है, यह सोचकर उन्होंने तुरंत प्रतिज्ञा की कि *'सुनु सुग्रीव मैं मारिहौं बालिहि एकहि बान।'* यही तो मित्रधर्मकी पराकाष्ठा है।

प्रभुका बाना है गरीबनिवाज, दीनदयालु, प्रणतपाल! इसीसे उन्होंने दीन, गरीब और शरणागत सुग्रीवकी रक्षा उसके अति प्रबल शत्रुसे की। हनुमान्‌जीने कहा ही है कि *'दीन जानि तेहि अभय करीजै।'*

भगवान्‌ने *'बिटप ओट'* से वालीको मारनेका चरित वस्तुतः क्यों किया, इसमें क्या रहस्य है—यह तो श्रीराम ही जानें, या वे जानें जिन्हें वे जना दें। पर श्रीअवधमें महात्माओंसे जो सुना है वह यह है— वाली जानता है कि रावणवधके लिये प्रभुने अवतार लिया है, ताराने भी जब उससे कहा कि—

'सुनु पति जिन्हहि मिलेउ सुग्रीवा। ते दोउ बंधु तेज बल सींवा॥
कोसलेस सुत लछिमन रामा। कालहु जीति सकहिं संग्रामा॥'

तब उसने यही कहा कि *'समदरसी रघुनाथ। जो कदाचि मोहि मारिहिं तौ पुनि होउँ सनाथ॥'* और मारे जानेपर जब प्रभु समीप आये तब वह एकबारगी उठ बैठा और कहने लगा *'धर्महेतु अवतरेहु गोसाईं। मारेहु मोहि ब्याध की नाईं॥'* इससे स्पष्ट है कि वह जानता था कि ये परब्रह्म परमात्मा हैं। आनन्दरामायणमें भी कहा जाता है कि ताराके वचन सुनकर वालीने कहा था कि **'जानाम्यहं राघवं तं नररूपधरं हरिम्। तस्य हस्तान्मृतिर्मेऽस्ति गच्छामि परमं पदम्॥'** अर्थात् मैं उन नररूपधारी भगवान् राघवको जानता हूँ। उन्हींके हाथसे मेरी मृत्यु है, मैं परमपदको पाऊँगा।

यदि प्रभु सामने आते तो किंचित् सन्देह नहीं कि वह दर्शन पाते ही अवश्य चरणोंपर गिर पड़ता। इसका प्रमाण है—

परा बिकल महि सर के लागे। पुनि उठि बैठ देखि प्रभु आगे॥

और, *'सुफल जनम माना प्रभु चीन्हा॥'*

तब श्रीरामजी वालीको कैसे मारते? और न मारते तो मित्रका काम कैसे होता? एवं सत्यसन्धता कहाँ रह जाती? तथा ऋषियोंके वाक्य कैसे सत्य होते*? शरणमें आये हुए सुग्रीवको छोड़ देते तो ब्रह्माण्डभरमें आज उनकी शरणमें कौन विश्वास करता? जीव उनकी शरणमात्र लेनेसे अपने कल्याणका विश्वास और निश्चय कब कर सकता? सामने आनेपर वे शील कैसे छोड़ देते? इसलिये उसे *'बिटप ओट'* से मारा। इसपर यह कहा जा सकता है कि वाली भक्त था तो पहले ही शरणमें क्यों न आया, जब ताराने उसको समझाया था? इसका कारण यह ज्ञात होता है कि सुग्रीवने जाकर उसे ललकारा था। भला ऐसा कौन बलवान् पराक्रमी वीर योद्धा होगा जो शत्रुकी ललकारपर उलटे उसके सामने हाथ जोड़े? यथा—**'रिपूणां धर्षितं श्रुत्वा मर्षयन्ति न संयुगे।'** (वाल्मी० १४। १८) **'जानन्तस्तु स्वकं वीर्यं स्त्रीसमक्षं विशेषतः।'** *'बाली रिपुबल सहै न पारा।'*

छिपकर भी मित्रके शत्रुको मारनेमें कुछ दोष नहीं है। मान भी लिया जाय, तो भी वह कानून ही और है और शरणागतवत्सलताका कानून उन सारे सांसारिक कानूनोंसे निराला है। यह तो नियमका अपवाद है, यह तो भगवान्‌का निज कानून है। अपने भक्तोंकी रक्षाके लिये प्रभु ब्रह्मण्यदेवत्व आदि गुणोंको भी ताकपर रख देते हैं, उनको यह भी परवा नहीं कि हमको कोई बुरा कहेगा। अपने स्वार्थकी हानि हो तो

---

* सप्ततालके प्रसंगमें कहीं ऐसा उल्लेख है कि किसी ऋषिने वालीको शाप दिया था, अथवा तक्षक या उसके पुत्रने वालीको शाप दिया था कि जो कोई इन सप्ततालोंको एक बाणसे बेधे उसीके हाथ तेरी मृत्यु होगी। इसीसे सप्ततालके गिरते ही सुग्रीवको अपने कार्यसिद्धिका विश्वास हो गया था। यदि इस समय भगवान् उसे न मारते तो संसारमें दूसरा कौन बलवान् था जो उसको मार सकता? दिग्विजयी रावण भी उससे हार चुका था। प्रभाव इसका यह पड़ता कि वालीका अभिमान और भी बढ़ता और वह दूसरा रावण हो जाता, तब उसके लिये फिर अवतार लेना पड़ता।

हो, पर मित्रको हानि न पहुँचे, उसका कार्य अवश्य सिद्ध करना होगा, जो प्रतिज्ञा हो गयी, सो हो गयी अब उससे नहीं टलनेके। विरदमें धब्बा न आवे। इसीपर गोस्वामीजीने विनय और दोहावलीमें कहा है—

'ऐसे राम दीन हितकारी।·····तियबिरही सुग्रीव सखा लखि हत्यो बालि सहि गारी॥'

'का सेवा सुग्रीवकी प्रीति रीति निरबाहु। जासु बंधु बध ब्याध ज्यों सो सुनत सुहाइ न काहु॥

भजन बिभीषनको कहा फल कहा दियो रघुराज। राम गरीबनिवाज के बड़ी बाँह बोल की लाज।' (विनय)

'कहा बिभीषन लै मिलेउ कहा बिगारी बालि। तुलसी प्रभु सरनागतहि सब दिन आए पालि॥

बालि बली बलसालि दलि सखा कीन्ह कपिराज। तुलसी राम कृपालु को बिरद गरीबनिवाज॥

बंधुबधूरत कहि कियो बचन निरुत्तर बालि। तुलसी प्रभु सुग्रीवका चितई न कछू कुचालि॥'

पुनः, यथा—*'बालि दसानन बंधु कथा सुनि सत्रु सुसाहिब सील सराहैं। ऐसी अनूप कहैं तुलसी रघुनायक की अगुनी-गुन-गाहैं। आरत दीन अनाथन को रघुनाथ करैं निज हाथन छाहैं।'* (क० उ० ११)

इस विषयमें वाल्मी० अ० स० १० भी प्रमाणमें दिया जा सकता है। वहाँ जब महारानीजीने आपसे प्रार्थना की कि आपने राक्षसोंके बधकी प्रतिज्ञा की है पर मेरी प्रार्थना है कि आप बिना अपराधके उनका वध न करें, उस समय प्रभुने यह उत्तर दिया कि 'दण्डकारण्यके ऋषि मेरी शरण आकर मुझसे बोले कि आप ही हमारे नाथ हैं, आप ही हमारे एकमात्र रक्षक हैं। यह सुनकर मैंने राक्षसवधकी प्रतिज्ञा की। अब उस प्रतिज्ञाको मैं नहीं छोड़ सकता। सत्य मुझे सदा प्रिय है। मैं प्राण छोड़ सकता हूँ, तुमको एवं लक्ष्मणको छोड़ सकता हूँ, पर प्रतिज्ञा नहीं छोड़ सकता*'। ऐसा ही प्रभुने सुन्दरकाण्डमें कहा है—*'मम पन सरनागत भय हारी।'* और भी प्रमाण लीजिये। जब रामचन्द्रजीने भागते हुए माल्यवान्, माली और सुमालीपर बाण चलाया तब उन्होंने यही कहा कि आप अधर्मयुद्ध करते हैं कि भागते हुएका भी पीछा कर रहे हैं तब भगवान्‌ने यही उत्तर दिया था कि इस समय हम धर्माधर्म नहीं देखते, हम देवमुनि-रक्षामें तत्पर हैं उनके लिये जैसे बने हम उनका कार्य करेंगे।

आधुनिक समालोचकोंको चाहिये कि सहृदयता और सद्भावनासे ही ईश्वरावतारचरित्रोंपर विचार करनेका कष्ट उठाया करें, तभी उसके रहस्य उनकी समझमें आ सकते हैं।

सुग्रीव-मिताई एवं वाली-वधके कुछ और कारण

१ शबरीजीने सुग्रीवका पता बताया और कहा कि *'पंपासरहि जाहु रघुराई। तहँ होइहि सुग्रीव मिताई॥ सो सब कहिहि देव रघुबीरा।'* अर्थात् वह सीताजीका पता बतायेगा, उससे मित्रता कीजिये, वह बहुत दीन है। एक परम भक्तकी यह सलाह है, फिर उसे भगवान् क्यों न मानते?

२ वाल्मीकीयमें कबन्धने दिव्यरूप धारण करनेपर यही बात कहा कि सुग्रीवके पास जाइये, उससे मित्रता कीजिये। वह धर्मात्मा है। वालीसे मिलनेको किसीने न कहा। इससे यह भी अनुमान होता है कि वालीका अभिमान अतिशय बढ़ चुका था और उससे ऋषियों, भागवतों इत्यादिको भी कष्ट पहुँचने लगा था, वे सब वालीको अधर्मी समझने लगे थे। सम्भव था कि वह कुछ कालमें दूसरा सहस्रार्जुन हो जाता जिसने महर्षि जमदग्निका सिर ही काट लिया था।

३ श्रीसीताजीने भी सुग्रीवपर कृपा की। वा, यही समझ लीजिये कि दैवसंयोगसे सीताजीने 'पटभूषण' जो फेंके वे सुग्रीवको मिले थे। प्राणप्रियकी कोई वस्तु जिससे मिले वह भी प्यारा ही हो जाता है।

४ सुग्रीव सीताशोधमें सहायता करेगा, उसके बदलेमें रघुनाथजीका उपकार उसपर हुआ है। उसके

---

* 'रक्षकस्त्वं सह भ्राता त्वन्नाथा हि वयं वने। मया चैतद्वचः श्रुत्वा कार्त्स्न्येन परिपालनम्। १६। ऋषीणां दण्डकारण्ये संश्रुतं जनकात्मजे। संश्रुत्य च न शक्ष्यामि जीवमानः प्रतिश्रवम्। १७। मुनीनामन्यथाकर्तुं सत्यमिष्टं हि मे सदा। अप्यहं जीवितं जह्यां त्वां वा सीते सलक्ष्मणाम्। १८। न तु प्रतिज्ञां संश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः। तदवश्यं मया कार्यमृषीणां परिपालनम्। १९।'

उपकारसे प्रभु उऋण हो गये। पर वालीसे मित्रता करनेमें उसके उपकारके बदलेमें आप क्या करते? उसका साथ देनेमें उसके साथ आपको भी अपराधी बनना पड़ता; क्योंकि वह बेचारे सुग्रीवको निरपराध मारनेको कहता। दूसरे, वालीसे मित्रता करनेमें प्रभुके यशकी हानि होती। उनके ऐश्वर्यको लोग न जान पाते। सब यही कहते कि वाली तो रावणसे बली था, उसकी सहायतासे रामचन्द्रजीने सीताको पाया। तीसरे, रावण-मेघनाद आदिकी मृत्यु वालीद्वारा हो नहीं सकती थी, वालीके रहते हुए भी तो देवता और ऋषि रावणसे पीड़ित ही रहे। यदि उसमें रावणादिके वधका सामर्थ्य होता तो वह अपने पिता इन्द्रको कबका रावणसे स्वतन्त्र कर चुका होता और जैसा हनुमन्नाटकमें उसने कहा है वह कदापि न कहता कि—'हा! मैं अपने पिता इन्द्रके शत्रु रावणको बिना ही मारे मर गया, यही मुझे दुःख है'—(अङ्क ५ श्लो० ५७) वालीद्वारा सीता भले ही प्राप्त हो जातीं पर निशिचरकुलहित रावणवध तो किसी तरह न होता। जिसके लिये अवतार और वनवास हुआ वह कार्य ज्यों-का-त्यों ही रह जाता। और चौथे, सम्राट चक्रवर्ती पद भी कहाँ रह जाता? पाँचवें, वाली अभिमानी प्रकृतिका है और बस्तीमें रहता है। उससे मित्रतामें चक्रवर्ती राजकुमारका गौरव कब बना रह जाता? इत्यादि। उधर सुग्रीव महान् आर्त्त है, वालीसे ऐसा भयभीत रहता है कि श्रीराम-लक्ष्मणजीको भी देखते ही भागा कि कहीं वालीने न भेजा हो। फिर मित्रताकी बात भी प्रथम उधरसे ही हुई। परमभक्त हनुमान्‌जी उसकी सुफारिश करते हैं—*'दीन जानि तेहि अभय करीजै।'* उससे जब मित्रता हो गयी तब *'मित्र के दुख रज मेरु समाना',* इस न्यायानुसार उसका दुःख दूर करना कर्तव्य और धर्म था। फिर, सुग्रीवसे मित्रता करनेमें रघुकुलका गौरव भी बना रहा और अवतारका कार्य भी सब हुआ। ☞और भी भाव यत्र-तत्र चौपाइयोंमें आ चुके हैं। वालीके प्रश्न और उनके उत्तर दोहा ९ (९-१०) में मानसके अनुसार दिये गये हैं, वहाँ देखिये।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—गुरु वशिष्ठजीने कहा है कि *'नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ॥'* भाव यह कि किसी भी कार्यके सम्पन्न करनेमें इन चार बातोंपर ध्यान रखना चाहिये और इनका यथार्थ जानकार श्रीरामजीको छोड़कर दूसरा कोई नहीं है। अतः श्रीरामचन्द्रजीके चरित हिंदू-जगत्‌में आदर्श माने जाते हैं। यदि हमें उपर्युक्त प्रकरणको समझना है, तो उसे नीति, प्रीति, परमार्थ और स्वार्थकी दृष्टिसे परखना चाहिये। तभी हमारी गति उसके मर्मतक हो सकती है।

वालीवधके औचित्यमें लोग बड़ी-बड़ी शंकाएँ उपस्थित करते हैं। श्रीरामजीके उत्तरसे वालीका समाधान तो हो गया, पर उनका समाधान नहीं होता है। यदि नीति, प्रीति, परमार्थ और स्वार्थकी दृष्टिसे परीक्षा की जाय, तो बहुत सम्भव है कि उनकी शंकाओंका समाधान हो जाय।

(१) नीति-दृष्टिसे यदि देखें तो प्रजापालन ही राजाका कर्तव्य ठहरता है, और वह बिना दुष्टोंके शासनके हो नहीं सकता। महाराज दशरथने रामजीको राज्य देनेके लिये कहकर नारिवश होकर वन दिया, पर धर्म-धुरंधर रामजीने वन देनेपर भी पिताके वाक्यको सत्य माना। माँसे कहते हैं *'पिता दीन्ह मोहि कानन राजू।'* कथा प्रख्यात है, रामजीने वनमें जाकर ऐसा दमन किया कि शूर्पणखा कहती है कि *'जिन्ह कर भुजबल पाइ दसानन। अभय भए बिचरत मुनि कानन॥'* राक्षसोंसे वैर बँध गया। रावणने सीताहरण किया। सीताजीको खोजते-खोजते रामजी ऋष्यमूक पहुँचे। वहाँ सुग्रीवसे मैत्री हुई। उसके भाई वालीसे रावणकी अग्नि-साक्षिक मैत्री थी। शत्रुका मित्र भी शत्रु होता है, अतः वाली भी एक बलवान् शत्रु था, उसके रहते रावणके वधमें बड़ी बाधा थी। वालीने सुग्रीवका सर्वस्व हरण तथा स्त्रीका भी हरण किया था, अतः दोनोंमें शत्रुता थी। नीतिनिपुण रामजीने सुग्रीवसे अग्निसाक्षिक मैत्री की।

अब सुग्रीव यदि निष्कण्टक समृद्ध राज्य पा जाय तो सीताकी भी खोज हो, और रावणवधमें भी सहायता मिले। वालीसे यदि प्रत्यक्ष होकर युद्ध किया जाय तो बहुत-से वानर वीरोंका संहार होगा, जिनसे कि रावणकी लड़ाईमें काम लेना है, और सुग्रीवको उजड़ी हुई पुरी मिलेगी। अतः रामजी अकेले सुग्रीवके साथ किष्किन्धा गये। जीमें ठान लिया कि मैं छिपा रहूँगा, और सुग्रीव जाकर वालीको ललकारे, जब

वाली बाहर आयेगा तो मैं मार दूँगा। वाली स्त्री-हरण करनेवाला आततायी है, इसके वधमें विचारकी आवश्यकता भी नहीं, और वही हुआ। नीतिके अनुसार वालीको छिपकर मारना ही प्राप्त था।

(२) प्रीति—रामजीकी सुग्रीवसे मैत्री हुई। शरणागतवत्सल रामजी उसकी दुःखकथा सुनकर द्रवीभूत हो गये, प्रतिज्ञा कर दी *'सुनु सुग्रीव मैं मारिहौं बालिहि एकहि बान'*, अतः सुग्रीवकी प्रीतिसे जो प्रतिज्ञा की उसीसे वालीवध हुआ। इधर वाली यद्यपि शत्रु था, आततायी था, धर्मतः वध्य था, फिर भी ईश्वरका प्रेमी था। वह अपनी वीरगति चाहता था, और उस समय ईश्वरके दर्शनका बड़ा अभिलाषी था। वाण खाकर गिरनेपर, उसकी कोमल वाणीसे प्रसन्न होकर उसे प्रभुने जिलाना चाहा, तो वह कहता है।

'जन्म जन्म मुनि जतन कराहीं। अंत राम कहि आवत नाहीं॥
मम लोचन गोचर सोइ आवा। बहुरि की प्रभु अस बनिहि बनावा॥'

ऐसे वालीका वध रामचन्द्रजी सम्मुख जाकर नहीं कर सकते थे। अतः प्रीतिकी दृष्टिसे भी छिपकर मारना ही प्राप्त था।

(३) परमार्थ—इस विषयमें जो स्वयं वाली और रामचन्द्रमें प्रश्नोत्तर हुआ उसने उसमें व्याधाकी भाँति वध करनेसे रामजीपर आक्षेप किया। रामजीने *'बन्धु बधूरत'* कहकर उसे निरुत्तर कर दिया। वालीने प्रश्न करनेमें चालाकी की; उसे रामजीने पकड़ लिया। रामजीने वालीको उसके अन्यायके लिये दण्ड दिया और वाली उसे युद्धका रूप देकर प्रश्न करता है। वस्तुतः युद्ध दूसरी वस्तु है और दण्ड देना दूसरी वस्तु है। छिपकर मारना दण्डकी तीव्रता है। वध-दण्ड तो अनुज-वधूको कुदृष्टिसे देखनेवालेके लिये है, पर *'बन्धु बधूरत'* को उससे तीव्र दण्ड देना चाहिये, और वधसे कोई बड़ा दण्ड नहीं है, अतः वधकी विधिमें तीव्रता लानेके लिये व्याधकी भाँति वध किया। जिस समय वाली अपनेको विजयी समझकर सुग्रीवका वध कर रहा था, उसी समय अकस्मात् बाणका कलेजेमें घुस जाना वध-दण्डकी तीव्रता है। राजा यदि यथार्थ दण्ड न दे, दण्डमें न्यूनाधिक्यको स्थान दे, तो उस दोषका राजा भागी होता है। इस उत्तरका प्रत्युत्तर वालीके पास नहीं था। अतः परमार्थ-दृष्टिसे इसी प्रकारसे वालीवध उचित था।

(४) स्वार्थ—यदि वालीवध करके सुग्रीवको निष्कण्टक समृद्ध राज्य रामजीने न दिया होता, तो सीताजीका पता लगना ही कठिन था, समुद्रपर पुल बाँधना और वानरी सेनाके साथ लंकापर चढ़ाई करना तो दूरकी बात थी। अतः वैदेहीकी प्राप्तिके लिये भी वाली-वध परमावश्यक था। स्वयं भगवान् मारुतिने जब सीताजीको अशोकवाटिकामें देखा तो मनमें कहा। **'अस्या हेतोर्विशालाक्ष्या हतो वाली महाबलः।'** (वाल्मी० १६। ७) अतः स्वार्थकी सिद्धि भी वालीके छिपकर मारनेमें ही थी।

जो बात नीति, प्रीति, परमार्थ और स्वार्थसे सिद्ध है, उसपर शंका उठाना गम्भीर विषयके मर्म न समझनेका ही फल है।

नोट—रामनिष्ठ पं० बजरंगदासका मत है कि श्रीरामजीने छिपकर नहीं मारा। (वालिवध-दर्पण)

मैं बैरी सुग्रीवँ पिआरा। अवगुन कवन नाथ मोहि मारा॥ ६॥

अर्थ—मैं वैरी हूँ, सुग्रीव प्यारा है! हे नाथ! किस अवगुणसे मुझे आपने मारा?॥ ६॥

नोट—१ *'मैं बैरी सुग्रीव पिआरा'* में अ० रा० के **'सुग्रीवेण कृतं किं ते मया वा न कृतं किमु।'** (२। ५४) का भाव है। अर्थात् सुग्रीवने आपके साथ क्या उपकार किया और मैंने क्या नहीं किया? भाव कि मैं तो आपको समदर्शी सुनता और जानता था; पर आपमें यह गुण नहीं है, लोग झूठा ही ऐसा कहते हैं और मैं भी इसी धोखेमें मारा गया।

नोट—२ *'अवगुन कवन नाथ मोहि मारा'* कहकर जनाया कि मैं निरपराध मारा गया। मैंने आपके देश या नगरमें कोई उपद्रव नहीं किया, आपका तिरस्कार नहीं किया, मैं आपसे युद्ध नहीं करता था; किंतु दूसरेसे युद्ध करता था, तब आपने मुझ निरपराधीको क्यों मारा?—यथा—**'विषये वा पुरे वा ते यदा पापं करोम्यहम्। न च त्वामवजानेऽहं कस्मात्त्वं हंस्यकिल्बिषम्।'**······(वाल्मी० १७। २४), **'किं मयापकृतं**

राम तव येन हतोऽस्म्यहम्।' (अ० रा० २। ५१) का प्रतिरूप ही यह चरण है। केवल भेद इतना है कि अ० रा० में 'राम' है और यहाँ 'नाथ'।

नोट—३ 'नाथ' में भाव यह है कि आप कुलीन, बलवान् तेजस्वी, चरित्रवान्, कारुणीक, प्रजाका हित करनेवाले, दयालु, उत्साही, दृढ़संकल्प, दम, शम, क्षमा, धर्म, धृति, सत्य और पराक्रम आदि सर्वगुणसम्पन्न सुने जाते हैं जो 'नाथ' में होने चाहिये; पर आपने मुझे निरापराध मारा, इस निन्दित कर्मके कारण पृथ्वी आपको स्वामी पाकर सनाथ नहीं हुई—**'त्वया नाथेन काकुत्स्थ न सनाथा वसुंधरा।'** (वाल्मी० १७। ४२)

टिप्पणी—१ ये सब बातें कहकर वालीने रामजीको अधर्मी बनाया—(१) धर्म-हेतु आपने अवतार लिया और मुझको छिपकर मारा। यह अधर्म है। (२) आपने समदर्शी होकर मुझको वैरी और सुग्रीवको प्यारा समझा, यह अधर्म है। (३) बिना अवगुण मारा, यह अधर्म है। भाव यह कि भाइयोंमें वैर-प्रीति समयानुसार परस्पर होती ही रहती है; परंतु हे नाथ! आपने क्यों बिना विचारे ऐसी अनीति की और इस नियमको तोड़ दिया। (मा० म०) (४) अन्यके वैरसे अन्यको मारना अधर्म है।

अनुजबधू भगिनी सुतनारी। सुनु सठ कन्या सम ए चारी॥७॥
इन्हहि कुदृष्टि बिलोकै जोई। ताहि बधे कछु पाप न होई॥८॥

अर्थ—अरे शठ! सुन। छोटे भाईकी स्त्री, बहिन, पुत्रकी स्त्री और कन्या ये चारों समान हैं॥७॥ इनको जो कोई बुरी दृष्टिसे देखे उसका वध करनेसे कुछ पाप नहीं होता॥८॥

टिप्पणी—१ यहाँ प्रथम *'अनुजबधू'* कहा, क्योंकि प्रस्तुत प्रसङ्ग यही है। इसे प्रथम कहकर वालीको जनाते हैं कि तू छोटे भाईकी स्त्रीमें रत है।

टिप्पणी—२ *'कुदृष्टि बिलोकै'''* इति। भाव कि छोटे भाईकी स्त्रीपर कुदृष्टि देखनेसे ही वधका दण्ड होता है और तूने तो उसे ग्रहण करके स्त्री बना लिया है। तेरे वधसे हमको पाप नहीं लग सकता, पर यदि तेरा वध न करते तो पाप होता। पापीको मारना हमारा धर्म है, इसीसे तुझे मारा। यथा—**'अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन्। अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति।'** इति (मनु०) अर्थात् जो राजा निरपराधियोंको दण्ड दे और अपराधियोंको दण्ड न दे वह बड़े अपयशको प्राप्त होता है और नरकको जाता है। **'धर्मस्य गोप्ता लोकेऽस्मिंश्चरामि सशरासनः॥ अधर्मकारिणं हत्वा सद्धर्मं पालयाम्यहम्'** (अध्यात्म स० २। ५९-६०) अर्थात् इस लोकमें हम धर्मके पालन करनेवाले धनुर्धारी होकर विचरते और अधर्मीको मारकर सद्धर्मकी रक्षा करते हैं।

शिवपुराण २। ३। ४० में इससे मिलता हुआ यह श्लोक है, वह भी प्रमाणमें लिया जा सकता है—**'यथा माता च भगिनी भ्रातृपत्नी तथा सुता। एताः कुदृष्ट्या द्रष्टव्या न कदापि विपश्चिता॥'**

नं० प०—ऐसा करनेवालेकी गिनती आततायीमें है, इसीसे उसके वधमें पाप नहीं लगता। वालीके *'मारेहु मोहि ब्याध की नाईं'* का (अर्थात् व्याधकी तरह मारनेमें उसने पापका आरोपण किया था उसीका) उत्तर है कि जो अनुजवधूको कुदृष्टिसे देखे उसके वधमें पाप नहीं होगा। *'अवगुन कवन नाथ मोहि मारा'* का भी यही उत्तर है; *'मैं बैरी सुग्रीव पिआरा'* का उत्तर है कि सुग्रीव अमानी है इसलिये वह प्रिय है और तुम अभिमानी हो इसलिये अप्रिय हो।

नोट—१ मा० म० में *'सुनु सठ ए कन्या सम चारी'* पाठ है और अर्थ किया है कि 'छोटे भाईकी स्त्री, बहिन, भगिनी-सुतनारी अर्थात् बहिनकी पतोहू और सुतनारी (पतोहू) ये चारों अपनी कन्याके तुल्य हैं'। इस अर्थमें *'सुतनारी'* को दो बार लिया है, एक बार भगिनीके साथ मिलाकर दूसरी बार अकेले। परंतु अधिक उत्तम अर्थ वही है जो ऊपर दिया गया है। यदि पाठ यही हो तो भी अन्वयमें 'ए' शब्द चारोंके साथ लिया जा सकता है। दूसरे, अध्यात्ममें इसकी जोड़का श्लोक भी ऊपर दिये हुए अर्थको ही प्रमाणित करता है। वाल्मी० १८। १४, २२ से भी यही अर्थ सिद्ध होता है। वहाँ प्रभु कहते हैं—**'यवीयानात्मनः पुत्रः शिष्यश्चापि गुणोदितः। पुत्रवत्ते त्रयश्चिन्त्या धर्मश्चैवात्र कारणम्॥ १४॥ औरसीं भगिनीं**

वापि भार्यां वाप्यनुजस्य चः॥ २२॥ प्रचरेत नरः कामात्तस्य दण्डो वधः स्मृतः॥ २३॥' अर्थात् छोटा भाई, पुत्र, गुणवान् शिष्य ये पुत्रके समान हैं। कन्या, बहिन और छोटे भाईकी स्त्रीके साथ जो कामका व्यवहार करता है उसका दण्ड वध है। इसमें भी कन्याको चारमेंसे एक गिनाया है। अध्यात्ममें तो चौपाईका ही प्रतिरूप मिलता है, यथा—**'दुहिता भगिनी भ्रातुर्भार्या चैव तथा स्नुषा॥ समा यो रमते तासामेकामपि विमूढधीः। पातकी स तु विज्ञेयः स वध्यो राजभिः सदा॥'** (सर्ग २। ६०-६१)। अर्थात् अपनी लड़की, बहिन, भाईकी स्त्री और पुत्रवधू ये समान हैं। जो मूढ़बुद्धि इनमें रमण करता है, उसे पापी जानना चाहिये। वह सदा राजाद्वारा वध-योग्य है। काशिराज और भा० दा० की प्रतिमें *'सम ए चारी'* पाठ है।

वि० त्रि०—*'अनुज बधू''''न होई'* इति। यही उत्तर भगवान्‌ने दिया, जिसका प्रत्युत्तर वाली नहीं दे सका, परंतु आजकल वालीके समर्थकोंको यह उत्तर जँचता नहीं, उन्हें *'अनुज बधू भगिनी सुतनारी'*, तथा कन्याको कुदृष्टिसे देखना, उतना बड़ा अपराध नहीं मालूम होता जिसका इस भाँति दण्ड दिया जाय। परंतु धर्माधर्मके निर्णयमें अपनी प्रतिभा प्रमाण नहीं है धर्मशास्त्र प्रमाण है।

अब देखना चाहिये कि सरकारने अपने संक्षिप्त उत्तरमें ऐसी कौन बात कही कि जिससे वालीका समाधान हो गया। उनके उत्तरसे स्पष्ट मालूम होता है कि उन्होंने अपराधका दण्ड दिया। युद्ध करना और दण्ड देना दो पृथक् वस्तु हैं। युद्ध शत्रुसे किया जाता है। और दण्ड अपराधीको दिया जाता है। युद्धके नियम दण्ड देनेमें लागू नहीं हैं। अपराधी न्यायाधीशसे नहीं कह सकता कि तुम मुझ बँधे हुएको फाँसीकी आज्ञा देकर अधर्म कर रहे हो। मेरे हाथमें तलवार दो, और स्वयं तलवार लेकर आओ, और मुझे मार सको तो धर्म है नहीं तो फाँसी दिलवाना पाप है। न्यायाधीश कहेगा कि मैं लड़ने नहीं आया हूँ, तुमने अपराध किया है, उसीका यह दण्ड है, नहीं तो मैं तुम्हारा शत्रु नहीं हूँ।

सरकारका भी यही कहना है कि तुम हमारे शत्रु नहीं हो। यदि तुमसे शत्रुता होती और मैं लड़ने आया होता, तो तुम्हारी बात ठीक थी, पर मैं तो दण्ड देने आया हूँ। तुम अपराधी हो। बन्धुवधूको कुदृष्टिसे देखनेवाला वध्य है, पर तुम्हारा अपराध तो और भी बढ़ा-चढ़ा है, तुम *'बंधु बधूरत'* हो, अतः वधसे भी बड़े दण्डके योग्य हो, और वह दण्ड व्याधकी भाँति वध करना है। वधके दण्डमें तीव्रता लानेके लिये ही तुम्हारा वध व्याधकी भाँति करना पड़ा। वालीने सरकारके उत्तरको ठीक तरहसे समझा; अतः निरुत्तर हो गया, यथा—*'बंधु बधूरत कहि कियो बचन निरुत्तर बालि।'*

मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करसि न काना॥ ९॥
मम भुजबल आश्रित तेहि जानी। मारा चहसि अधम अभिमानी॥ १०॥

अर्थ—अरे मूर्ख! तुझे अत्यन्त अभिमान है, तूने स्त्रीकी शिक्षापर कान भी न दिया अर्थात् न मानी॥ ९॥ अरे अधम (अधर्मी) और अभिमानी*! सुग्रीवको मेरे बाहुबलके सहारे जानकर भी तूने उसे मारना चाहा॥ १०॥

टिप्पणी—१ *'नारि सिखावन करसि न काना'* इति। इससे श्रीरामजीकी सर्वज्ञता सूचित हुई। स्त्रीने तो घरमें शिक्षा दी पर उसे श्रीरामजीने यहीं जान लिया। यहाँ *'करसि'* वर्तमानकालकी क्रिया दी यद्यपि शिक्षा तो भूतकालमें हुई। इसका समाधान यह है कि वर्तमानके समीप भूत और भविष्य वर्तमानहीके तुल्य हैं, यथा—**'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा' इति कौमुदीग्रन्थे।**

* प० प० प्र० स्वामीका मत है कि 'मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना' पिछली अर्धालीमें कहा ही है अतः यहाँ 'अभिमानी' शब्दको पृथक् लेनेसे कोई अर्थ ही नहीं रहता। 'शते पंचाशत' न्यायसे 'अतिशय अभिमान' में 'अभिमान' तो है ही, अतः 'अधम' और 'अभिमान' को पृथक्-पृथक् न लेकर एक सामासिक पद मानना ही उचित है जिसका अर्थ होगा 'देहाभिमानी'। अधम=स्थूल देह, जड़ देह'; पर दासकी क्षुद्रबुद्धिमें अधम=अधर्मी, पापी। अनुजवधूरत होनेसे 'अधम' है ही। उत्तरकाण्डमें 'परदाररत' को पापी अधम, कहा भी है। यथा—'पर द्रोही परदार रत पर धन पर अपबाद। ते नर पावँर पापमय देह धरे मनुजाद॥ ३९॥ ऐसे अधम मनुज खल।' स्त्रीकी शिक्षा न मानने और आश्रित जानकर भी सुग्रीवको मार डालनेकी इच्छा करनेसे 'अभिमानी' (अतिशय अभिमानयुक्त) कहा।

टिप्पणी—२ *'मम भुजबल आश्रित तेहि जानी'''* इति। (क) कैसे जाना? तारासे, यथा—*'सुनु पति जिन्हहिं मिला सुग्रीवा। ते दोउ बंधु तेज बल सींवा॥'* तारासे यह जानकर भी न माना, अतः कहा कि *'मारा चहसि।'* (ख) स्त्रीशिक्षा न माननेसे *'मूढ़ अभिमानी'* कहा और आश्रित भक्तको मारनेकी इच्छा की इससे यहाँ *'अधम अभिमानी'* कहा। (ग) *'अधम अभिमानी'* कहनेका भाव कि हमारा अवतार इन्हींके मारने और धर्मकी रक्षाके लिये है, यथा—*'जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥ तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥'* तू अधम और अभिमानी है, तुझे मारकर हमने धर्मकी रक्षा और भक्तकी पीड़ा हरण की। तात्पर्य कि उत्तमका उपदेश न मानना मूढ़ता है और भक्त को मारना अधमता है। [☞देखिये कविने बालकाण्डमें कहे हुए वचनोंका कैसा निर्वाह यहाँ किया है।]

वालीके प्रश्न	श्रीरामजीके उत्तर
'धर्महेतु अवतरेहु गोसाईं।	*१ 'अनुज बधू भगिनी सुतनारी। सुनु सठ कन्या सम ए चारी॥*
मारेहु मोहि ब्याध की नाईं॥'	*२ इन्हहिं कुदृष्टि बिलोकै जोई। ताहि बधे कछु पाप न होई॥'*

छिपकर मारना अधर्म है, आपने यह अधर्म किया। अधर्मीको मारना धर्म है। यह दण्ड है, युद्ध नहीं।

मैं बैरी सुग्रीव पिआरा।	*३ 'मम भुजबल आश्रित तेहि जानी। मारा चहसि अधम अभिमानी॥'*
	तूने हमारे भक्तको मारना चाहा, इससे तू हमारा भी वैरी है, यथा—

'सेवक बैर बैर अधिकाई'। वह सेवक है इससे प्यारा है—*'मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं।'* *'अवगुन कवन नाथ मोहि मारा॥'* ४ अनुज-वधूमें रत; दूसरे, आश्रितको मारना यह अपराध है।

नोट—१ व्याधकी तरह मारनेका उत्तर ध्वनिसे यह भी निकलता है कि तू पापरत था, पातकी अधर्मीका मुख देखना शास्त्रमें निषेध है। जब बाणद्वारा तेरा वह पाप नष्ट कर दिया गया, (यथा—**'राजभिर्धृतदण्डाश्च कृत्वा पापानि मानवाः। निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा॥'** (वाल्मी० १८। ३१) अर्थात् राजाके द्वारा दण्ड पाकर मनुष्य पापसे निर्मल हो जाता है और पुण्यात्माओंकी तरह स्वर्गको जाता है। पुनः यथा—**'तदस्त्रं तस्य वीरस्य स्वर्गमार्गप्रभावनम्।'''** (१७। ८) तब मैं तेरे पास आया। २—'अतिशय' विशेषण देकर यह भी जनाया कि यह भी एक कारण मृत्युका हुआ। बातका अतिशय कोटिको पहुँचना हानिकारक ही हो जाता है। जैसा भर्तृहरिजीने कहा है कि अतिशय सौन्दर्यके कारण सीताहरण हुआ, अतिशय गर्व होनेसे रावण मारा गया, इत्यादि। ३—*'नारि सिखावन करसि न काना'*, ऐसा ही वाल्मी० सर्ग १५ में कहा है—**'तदा हि तारा हितमेव वाक्यं तं वालिनं पथ्यमिदं बभाषे। न रोचते तद्वचनं हि तस्य कालाभिपन्नस्य विनाशकाले।'** (३१) अर्थात् ताराके ये हितकारी वचन वालीको अच्छा न लगे; क्योंकि उसका विनाशकाल उपस्थित था, उसपर मृत्युकी छाया पड़ चुकी थी। ४—*'मम भुजबल आश्रित तेहि जानी'''* इति। वाल्मी० १८ में कहा है कि **'सुग्रीवेण च मे सख्यं लक्ष्मणेन यथा तथा। दारराज्यनिमित्तं च निःश्रेयसकरः स मे॥ प्रतिज्ञा च मया दत्ता तदा वानरसंनिधौ। प्रतिज्ञा च कथं शक्या मद्विधेनानवेक्षितुम्॥'** (२६-२७) अर्थात् जैसे मेरे सखा लक्ष्मण हैं वैसे ही सुग्रीवके साथ भी मेरा सख्यत्व है। स्त्री और राज्य पानेपर वे मेरे कल्याणके लिये प्रतिज्ञाबद्ध हैं, मैंने भी वानरोंके सामने प्रतिज्ञा की है, हमारे समान मनुष्य प्रतिज्ञाकी उपेक्षा कैसे कर सकते हैं?

प्र०—अपनी जानपनीके गुमानसे स्त्रीका कहा न माना, इससे मूढ़ कहा, यथा—*'मूरख हृदय न चेत'''* पुनः भाव यह कि अभिमानसे तू अपनेको पुरुष मानता है और बुद्धि स्त्रियोंके समान भी नहीं है।

'मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना'

भगवान्‌को अभिमानसे चिढ़ है। भक्तोंमें भी वे अभिमान नहीं सह सकते। अभिमान आते ही वे तुरंत भक्तकी उससे रक्षा करते हैं। अर्जुनका गर्व हरा, भीमका गर्व दूर किया। नारदजो उनको परमप्रिय हैं उनके सम्बन्धमें भी आपने पढ़ा ही है कि क्या किया।—

**'करुनानिधि मन दीख बिचारी। उर अंकुरेउ गर्ब तरु भारी॥
बेगि सो मैं डारिहौं उपारी। पन हमार सेवक हितकारी॥
मुनि कर हित मम कौतुक होई। अवसि उपाय करबि मैं सोई॥'**

बस, उनका शाप भी ग्रहण किया, अवतीर्ण हुए, नर-नाट्य विलापादि भी किये—यह सब हुआ पर भक्तका अभिमान दूर किया। जब जो उपाय वे उचित समझते हैं तब उसीको काममें लाते हैं—

'कुलिसहु चाहि कठोर अति कोमल कुसुमहु चाहि'

वालीको अपने बलका बड़ा गर्व था, यथा—*'मूढ़ तोहिं अतिसय अभिमाना'''''।'* वह सुग्रीवको तृणसमान गिनता था।

उनको एक ही बाणसे मारकर उसका गर्व दूर किया। अङ्गदके वचनसे भी सिद्ध है कि एक ही बाणसे वालीका मारा जाना असम्भव-सा था, यथा—*'सो नर क्यों दसकंध बालि बधेउ जेहि एक सर।'* मन्दोदरीने भी ऐसा ही कहा है—*'बालि एक सर मारेउ तेहि जानहु दसकंध।'*

पर गर्व हरण होते ही फिर उसपर दयालु हो जाते हैं। अपराधका दण्ड देकर उसका प्रायश्चित्त हो जानेपर वह उनको वैसा ही प्रिय हो जाता है जैसा सुग्रीव। यदि छिपकर मारनेमें कपट-छल होता तो क्या वे उसके सम्मुख होनेपर कहते कि—*'अचल करौं तन राखहु प्राना'?*

वेदान्तभूषणजी—इस विषयमें लोगोंने बहुत कुछ समाधान किया है पर वह सार्वजनिक वैदिक शास्त्रीय समाधान नहीं है।

मुण्डकोपनिषद् २। २ की आठवीं श्रुति कहती है—**'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥'** अर्थात् (सात्त्विक संस्कार-विशिष्ट जीवोंको) ब्रह्मसाक्षात्कार होते ही उस जीवके हृदयकी अविद्यारूपी गाँठ खुल जाती है (जिसके कारण उस जड़ शरीरको ही अपना स्वरूप मान रखा है), उसके सम्पूर्ण संशय सर्वथा कट जाते हैं और समस्त शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं। मानसमें भी श्रीवचनामृत है कि *'मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥'* ईश्वरबुद्धिसे (ब्रह्म जानकर) परमात्माका दर्शन करनेमात्रसे जीवको स्व-सहज-स्वरूप प्राप्त हो जाता है।

वालीकी दृष्टिमें श्रीरघुनाथजी परब्रह्म ही थे, यह उसके *'समदरसी रघुनाथ'* और *'धर्महेतु अवतरेहु गोसाईं'* इन वाक्योंसे स्पष्ट है। इन्द्रांश होनेसे वह बहुत कुछ सात्त्विक संस्कारोपपन्न था ही (तमोगुण अहंकारादि तो उसमें तमोगुणी रावणकी मैत्रीके कारण संसर्गदोषसे आ गया था), अतः श्रीरामजीके दर्शनमात्रसे उसे ज्ञान प्राप्त हो जाना निश्चित प्राय था। दर्शनके साथ ही उसके पाप भी नष्ट हो जाते, यथा—**'यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्। तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति।'** इति श्रुतिः। *'प्रभु अजहूँ मैं पापी अंतकाल गति तोरि।'*

प्रभुका अवतार अधम अभिमानियोंके वधार्थ होता है। यथा—*'जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥ तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥'* (१। १२१) अधम अभिमानी होनेसे ही उन्होंने वालीको वध्य माना; यह *'मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना' 'मारा चहसि अधम अभिमानी'* शब्दोंसे स्पष्ट है। और प्रतिज्ञा की कि *'मारिहौं बालिहि'''।'*

अब विचारिये कि यदि भगवान् मारनेके पूर्व उसके सामने जाते और वह उनका दर्शन कर पाता तो सर्वथा निष्पाप हो जानेपर उनको मारना कब उचित माना जाता। और न मारनेसे अनेक प्रकारकी हानि होती। एक तो प्रतिज्ञा असत्य हो जाती। दूसरे, वह श्रीसीताजीको लाकर श्रीरामजीको दे देता, इतना ही नहीं किन्तु सम्भवतः रावणको लाकर उससे माफी मँगवा देता। तब निशाचरोंका नाश कैसे होता, लोकपालादि रावणके बंदीखानेसे कैसे छुटते, जिस लिये अवतार हुआ वह कार्य ही नहीं होता और *'निसिचर हीन करउँ महि'* यह प्रतिज्ञा भी असत्य होती। अतएव *'बधेउ ब्याध इव बालि।' 'ब्याधकी नाईं'* का अर्थ है व्याधा की तरह निर्दय होकर।

दो०—सुनहु राम स्वामी सन चल न चातुरी मोरि।
प्रभु अजहूँ मैं पापी अंतकाल गति तोरि॥ ९॥

अर्थ—बालिने कहा हे रामजी! सुनिये, स्वामीसे मेरी चतुराई चल नहीं सकती। हे प्रभो! मुझे अन्त-समयमें आपकी गति (शरण) प्राप्त हुई है तो क्या मैं अब भी पापी ही हूँ? (अर्थात् आपकी शरण प्राप्त होते ही समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं यथा—'*सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥*' तब मुझमें पाप कहाँ रह गया। इससे यह भी जनाया कि मैं शरणागत हूँ।)॥ ९॥

नोट—१ (क) '*सुनहु राम*'—'राम' सम्बोधन देकर जनाया कि आप आनन्दनिधान हैं, सबको आनन्द देनेवाले हैं, सबके उर-अन्तर्यामी हैं, समस्त तत्त्वोंके यथार्थ ज्ञाता हैं, कार्यकारणके जाननेमें आपकी बुद्धि निर्मल है। अतः आपके वचनोंसे मेरा संदेह जाता रहा, मुझे संतोष और शान्ति तथा सुख प्राप्त हो गया। (ख) '*स्वामी*' कहकर दास्यभाव दृढ़ किया जो ऊपर '*पुनि पुनि चितइ चरन चित दीन्हा*' में ग्रहण किया था। इस सम्बोधनका भाव यह है कि मैं आपका सेवक हूँ, मुझपर आप सेवकपर जैसी कृपा की जाती है वैसी कृपा कीजिये। यथा—'*कृपा कोप बधु बँधब गोसाईं। मो पर करिय दास की नाईं॥*' (१। १७९) '*जदपि नाथ बहु अवगुन मोरें। सेवक प्रभुहि परै जनि भोरें॥*' (४। ३) (ग) '*चल न चातुरी मोरि*' से जनाया कि वालीने श्रीरामजीसे जो कठोर वचनोंमें प्रश्न किये थे वे बड़ी चालाकीके थे। चालाकी यह थी कि उसने युद्धमें शत्रुको छिपकर मारनेका अपराध लगाया था। पर श्रीरामजीसे वह चालाकी न चली। उन्होंने कहा कि यदि मैं तुमको शत्रु समझता और तुमसे युद्ध करता तब तो सन्मुख ही युद्धमें मारता, पर मैंने तो तुम्हें महान् पापका दण्ड दिया जो शास्त्रविहित है। पुनः, इसमें वाल्मी० सर्ग १८ के—'**प्रतिवक्तुं प्रकृष्टे हि नापकृष्टस्तु शक्नुयात्॥ मामप्यवगतं धर्माद्व्यतिक्रान्तं पुरस्कृतम्। धर्मसंहितया वाचा धर्मज्ञ परिपालय॥**' (४६, ४८) इन श्लोकोंका भाव भी है। अर्थात् श्रेष्ठ पुरुषोंको उत्तर देनेमें छोटा मनुष्य निश्चय ही समर्थ नहीं हो सकता। अब बड़ा धर्मत्यागी मैं भी आपके समीप आया हूँ, हे धर्मज्ञ! आप धर्मयुक्त वचनसे मेरी रक्षा करें। (घ) '*प्रभु*'—भाव कि आप सर्वसमर्थ हैं मुझ ऐसे पापीका भी उद्धार कर सकते हैं। (ङ) '*अजहूँ मैं पातकी*…' इति। तात्पर्य यह है कि सुग्रीव तो मित्रता करके पापसे रहित हुआ और मैं पहले अघी था पर शर लगनेसे महापुनीत हो गया (मा० म०)। पुनः भाव कि अब अधम न कहिये क्योंकि अब तो आपकी प्राप्ति मुझे हो चुकी है। (पं०) वाल्मी० १८। ३१ में भी कहा है कि पापी मनुष्य पापका दण्ड भोगकर निर्मल हो जाता है और स्वर्गको प्राप्त होता है। यथा—'**राजभिर्धृतदण्डाश्च कृत्वा पापानि मानवाः। निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा॥ ३१॥ शासनाद्वापि मोक्षाद्वा स्तेनः पापात्प्रमुच्यते।**' अतः कहा कि क्या मैं अब भी पापी हूँ? अन्तमें श्रीरामजीने उससे कहा है—'**तद्भवान्दण्डसंयोगादस्माद्विगतकल्मषः। गतः स्वां प्रकृतिं धर्म्यां दण्डदिष्टेन वर्त्मना॥**' (१८। ६२) '**त्यज शोकं च मोहं च भयं च हृदये स्थितम्।**' दण्ड पानेसे पाप दूर हो गया और दण्डके बताये मार्गके द्वारा आपने गति पायी। अतः शोक-मोह और भयका त्याग करो।

नोट—२ आधुनिक प्रतियोंमें जहाँ-तहाँ 'सन' और 'पापी' के बदले 'सुभग' और 'पातकी' पाठ आया है। पर प्राचीन सभी प्रतियोंका पाठ वही है जो ऊपर दिया गया।

प० प० प्र०—इस दोहेके प्रथम और तृतीय चरणोंमें १२-१२ मात्राएँ हैं। यह साहित्यज्ञोंको वृत्तदोष समझ पड़ेगा। पर वस्तुतः यहाँ यह दोष नहीं है अपितु स्वभावोक्ति है। मात्रा कम करके कवि बता रहे हैं कि वालीका कण्ठ प्रेमसे गद्गद हो गया है। एक तो बाणके आघातसे वह व्याकुल है, उसकी शक्ति क्षीण हो रही है, दूसरे इस समय वह सात्त्विकभावापन्न हो गया है। अतएव 'पापी' का उच्चार पाऽऽपी ऐसा करना उचित होगा।

सुनत राम अति कोमल बानी। बालि सीस परसेउ निज पानी॥ १॥

अर्थ—वालिकी अत्यन्त कोमल वाणी सुनते ही श्रीरामचन्द्रजीने वालीके सिरपर अपना हाथ फेरा॥ १॥

टिप्पणी—१ (क) वालीने अन्तमें दीन होकर कहा कि *'प्रभु अजहूँ मैं पापी अंतकाल गति तोरि,'* यह वाणी अति कोमल है। [यद्यपि वाली बाणसे अत्यन्त पीड़ित था तो भी उसने श्रीरामजीको 'स्वामी' सम्बोधन किया; इसीसे कविने उसकी वाणीको *'अति कोमल बानी'* लिखा। (मा० म०) पंजाबीजी लिखते है कि दोहेमेंके वचन कोमल हैं, अक्षर भी कोमल और भाव भी सुन्दर। बड़ोंकी रीति है कि जो विनम्र होता है उसका आश्वासन करते हैं। सिरपर हाथ इसीलिये फेरा। प० प० प्र० स्वामीका मत है कि दोहेके शब्दोंमें कोमल वर्ण अति अल्प हैं, अतः *'अति कोमल राम कोमल (दीन) बानी सुनत'* ऐसा अन्वय सुसंगत होगा] (ख) वालीके माथेपर हाथ फेरा और कृपा की। ☞जब-जब प्रभु अपने भक्तके माथेपर हाथ फेरते हैं तब-तब हाथका विशेषण कमल रहता है; वह अति कृपाका सूचक है। मानसमें केवल पाँच व्यक्तियोंके सिरपर हाथ फेरनेका उल्लेख है, जिनमेंसे चारमें 'कर' के साथ सरोज या उसका पर्याय शब्द भी है। यथा—*'सिर परसे प्रभु निज कर कंजा।'* (१। १४८। ८) *'कर सरोज सिर परसेउ कृपासिंधु रघुबीर।'* (३। ३०) *'परसा सीस सरोरुह पानी।'* (४। २३। १०) *'कर सरोज प्रभु मम सिर धरेऊ।'* (७। ८३। ४) और विनय० पद (१३८)—

> **कबहूँ सो कर सरोज रघुनायक धरिहौ नाथ सीस मेरे।**
> **जेहि कर अभय किये जन आरत बारक बिबस नाम टेरे॥ १॥**
> **जेहि कर कमल कठोर संभुधनु भंजि जनकसंसय मेट्यो।**
> **जेहि कर कमल उठाइ बंधु ज्यों परम प्रीति केवट भेंट्यो॥ २॥**
> **जेहि कर कमल कृपालु गीध कहँ उदक देइ निज धाम दियो।**
> **जेहि कर बालि बिदारि दासहित कपिकुलपति सुग्रीव कियो॥ ३॥**
> **आयो सरन सभीत बिभीसन जेहि कर कमल तिलक कीन्हो।**
> **जेहि कर गहि सर चाप असुर हति अभय दान देवन्ह दीन्हो॥ ४॥**
> **सीतल सुखद छाँह जेहि कर की मेटति ताप पाप माया।**
> **निसिबासर तेहि कर सरोज की चाहत तुलसिदास छाया॥ ५॥**

वालीपर सामान्य कृपा हुई है, इसीसे 'कर' के लिये 'कमल' विशेषण नहीं दिया गया। इसी प्रकार जब सुग्रीवके शरीरपर पीड़ा दूर करने और उसे वज्रवत् कर देनेके लिये हाथ फेरा तब *'कर परसेउ'* ही कहा।

नोट—विनयके भजनसे यह भी भेद निकलता है कि जहाँ वध आदिद्वारा सद्गति दी गयी है वहाँ भी 'कमल' विशेषण नहीं दिया गया है; क्योंकि दण्डमें कठोरता पायी जाती है और कमलमें कोमलता।

प० प० प्र०—स्वामीजी लिखते हैं कि 'मनु आदि चारों परम भक्त थे, अतः वालीके प्रसंगमें 'कमल' का प्रयोग न करनेमें भाव यह है कि—(क) भक्त न होनेपर भी वालीके मस्तकपर हाथ फेरा। (ख) जटायु और भुशुण्डिजीके प्रसङ्गोंसे मिलान करनेपर यह भाव निकलता है कि वालीकी पीड़ाका परिहार और दुःखहरण नहीं किया। आगेके *'कृपानिधाना'* सम्बोधनसे भी सूचित होता है कि अबतक पूर्णकृपा नहीं की गयी।'

मानसमें श्रीरामजीके करका उल्लेख ५८ बार आया है जिनमेंसे कमल या तदर्थी शब्द केवल दस बार मिलता है।

अचल करौं तन राखहु प्राना। बालि कहा सुनु कृपानिधाना॥ २॥

अर्थ—(और बोले कि) मैं तुम्हारी देहको अचल करता हूँ, तुम प्राण रखो। अर्थात् जीनेकी इच्छा करो। वालीने कहा—'हे दयासागर! सुनिये'॥ २॥

टिप्पणी—१ वालीने बारंबार यह कहा कि आपने मुझे मारा। यथा—*'मारेहु मोहि ब्याध की नाईं', 'अवगुन कवन नाथ मोहि मारा।'* इसीपर श्रीरामजीने कहा कि हमने तुम्हारे शरीरको मारा है सो उसे हम अचल किये देते हैं। पर प्राणके सम्बन्धमें प्रभु प्रतिज्ञा कर चुके हैं कि *'ब्रह्म रुद्र सरनागत गए न उबरिहि प्रान,'* उस प्रतिज्ञाको नहीं छोड़ सकते। इसीसे तनको अचल करनेको कहते हैं और प्राणके लिये कहते हैं कि तुम इनको रखना चाहो तो ये रह सकते हैं, इनका रहना तुम्हारे अधीन है। तुम शरणागत हो, तुम्हारी इच्छाकी पूर्तिके लिये शरणागतके निहोरे मैं प्रतिज्ञा छोड़ दूँगा।

टिप्पणी—२ 'कृपानिधान' सम्बोधनका भाव कि मुझ ऐसे अपराधीपर आपने कृपा की कि दर्शन दिया, सिरपर हाथ फेरा और मेरे लिये अपनी प्रतिज्ञा छोड़नेपर तत्पर हो गये।

वि० त्रि०—सरकार कहते हैं कि मैंने शरीर भङ्ग किया है, सो उसे मैं अचल किये देता हूँ, पर तुम मरना न चाहो। भाव यह कि जन्मभर तो तुम यह उपासना करते रहे कि मेरी वीरगति हो और उस समय सरकार मेरे आँखोंके सामने रहें और आज वह परिस्थिति आ गयी, तब उपालम्भ करते हो कि *'नाथ मोहि मारा।'* अच्छा तो मैं तुम्हारे शरीरको ठीक किये देता हूँ, तुम प्राण रखो, मरना न चाहो, इस अवसरको हाथसे खोना भी नहीं चाहते और मारनेका उपालम्भ भी करते हो।

नोट—१ प० प० प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि भक्तके लिये प्रतिज्ञा भङ्ग करना यह भूषण श्रीकृष्णावतारमें है। श्रीरामावतारमें तो *'रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहु बरु बचन न जाई॥'* श्रीरामजीने तो जो प्रतिज्ञा की थी कि *'मारिहउँ बालिहि एकहि बान'* वह पूरी की, छोड़ा कहाँ। दासकी अल्पबुद्धिमें तो ऐसा आता है कि श्रीरामावतारमें तो भक्तके लिये प्रतिज्ञा छोड़नेको उद्यत हो जाते अवश्य हैं; जैसे श्रीभरतजीसे सारी सभाके बीच प्रतिज्ञा कर दी—*'भरत कहहिं सोइ किए भलाई।'* (२। २५९। ८) *'मन प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करउँ सोइ आजु। सत्यसंध रघुबर बचन सुनि भा सुखी समाजु॥'* (२। २६४) इसीपर श्रीभरतजी कहते हैं कि *'निज पन तजि राखेउ पन मोरा। छोहु सनेहु कीन्ह नहिं थोरा॥ कीन्ह अनुग्रह अमित अति सब बिधि सीतानाथ।'* (२। २६६) पर भक्त प्रतिज्ञा सुनकर गद्‌गद हो जाता है, उसे पूर्ण विश्वास है कि मैं जो कहूँगा प्रभु अवश्य करेंगे; क्योंकि वे सत्यसंध हैं और प्रभु अवश्य करते, इसमें किञ्चित् सन्देह नहीं। रामभक्त इतनेहीसे कृतकृत्य हो जाता है और वह अपना धर्म विचारकर स्वयं ही प्रभुकी पूर्व-प्रतिज्ञाको छुड़ानेका विचार त्याग देता है।

वालि भक्त नहीं था। मारे जानेपर श्रीरामकी प्रतिज्ञा तो पूरी हो गयी। तथापि पीछे प्रभुकी शरणमें होनेपर प्रभुने उसमें देहाभिमान विशेष देखकर उससे कहा—*'अचल करउँ तन राखहु प्राना।'* यदि तुम्हारी इच्छा जीवित रहने और राज्य करनेकी है तो मैं तुम्हें वैसा ही अचल शरीर दे दूँ। पर वालिको इस समय परम भक्ति प्राप्त हो गयी है, अतः वह स्वयं ही नहीं चाहता कि जो प्रतिज्ञा वे सुग्रीवसे कर चुके हैं, वह असत्य हो जाय।

नोट—२ बाबा हरिहरप्रसादजीका मत है कि उपर्युक्त अर्थ और भाव ठीक नहीं हैं; क्योंकि इनका खण्डन स्वयं वालिके वचनसे होता है। उसने कहा है कि *'प्रभु कहेउ राखु सरीरही'* अर्थात् प्रभुने मुझसे कहा कि शरीर रखो, तब प्रभुका यह कथन कहाँ हो सकता है कि मैं तुम्हारे शरीरको अचल करता हूँ, तुम प्राण रखो। पुनः, प्रभुने यह कहा कि ब्रह्मरुद्रकी शरण जानेसे प्राण न बचेंगे, ऐसी प्रतिज्ञा है, कुछ अपनी शरणमें आनेपर भी प्राण न बचेंगे ऐसा नहीं कहा है।

रा० प्र० श०—भगवत्कृपासे अब वालिको तनका अभिमान नहीं रह गया, इससे—वह तन-त्यागको ही उत्तम समझता है। अपने ऊपर उत्तरोत्तर कृपा देखकर 'कृपानिधान' कहा।

जन्म जन्म मुनि जतन कराहीं। अंत राम कहि आवत नाहीं॥ ३॥
जासु नाम बल संकर कासी। देत सबहि सम गति अबिनासी॥ ४॥
मम लोचन गोचर सोइ आवा। बहुरि कि प्रभु अस बनिहि बनावा॥ ५॥

अर्थ—मुनिलोग जन्म-जन्म अभ्यास करते हैं (तो भी) अन्त समयमें मुखसे राम नहीं कह आता (रामनाम ऐसा दुर्लभ है)॥ ३॥ जिसके नामके बलसे शङ्करजी काशीमें सबको समान रूपसे अविनाशिनी गति देते हैं, वही प्रभु मेरे नेत्रोंके विषय आकर हुए। हे प्रभो! क्या फिर ऐसा संयोग बन पड़ेगा? अर्थात् ऐसी मृत्यु फिर बनाये नहीं बन सकेगी॥ ४-५॥

नोट—१ *'जन्म जन्म…'* का अर्थ श्रीनंगेपरमहंसजीने इस प्रकार किया है—''आपकी प्राप्तिके लिये मुनि-लोग जन्म-जन्म अर्थात् अनेक जन्मोंमें बराबर यत्न करते हैं, तब कहीं आप प्राप्त होते हैं। पुनः, आपका राम ऐसा नाम मृत्यु, समयमें कहकर फिर संसारमें जीव नहीं आता। भाव यह कि जब मुनियोंको अनेक जन्मोंके यत्नके बाद आप प्राप्त होते हैं, तब हमको तो आपकी प्राप्ति असम्भव है। पुनः, अन्त समयमें राम कहनेसे मुक्ति होती है पर उस समय राम कहना दुर्लभ है। सो आप हमारे नेत्रोंके सामने प्राप्त हैं, इससे इस समय हमारी मुक्ति हो जायगी, नहीं तो फिर अन्त-समय यह संयोग कहाँ होनेका, फिर हमारी मुक्ति भी दुर्लभ हो जायगी। 'काशीमें समगति' कहनेका भाव कि हमारे मरणसमय हमारे सामने होनेसे हमारी समगति हो जायगी, नहीं तो फिर कर्मानुसार गति होगी।' इस तरह वालिने मुनियोंका उदाहरण देकर प्रथम अपने लिये श्रीरामजीकी प्राप्तिकी दुर्लभता दिखायी है। दूसरे, अन्त-समयमें राम कहनेका उदाहरण देकर अपनी मृत्युके समय श्रीरामजीकी प्राप्तिसे अपनेको मुक्त होना सूचित किया। तीसरे उदाहरणसे श्रीरामजीकी प्राप्तिसे अपना समगतिका संयोग दिखाया। और इसी मुक्तिको छोड़ देनेपर आगे कल्पवृक्ष और बबूरका उदाहरण दिया है।''

नोट—२ मयंककार लिखते हैं कि *'अंत राम कहि आवत नाहीं'* के भाव अनेक हैं। *'तुम्हरो अंत लहे नहीं, तू न अन्त मो जात। नास अन्त वा अन्त मो, कहे जात नहिं आत॥'* अर्थात् आपको अन्तमें नहीं पाते, न आप अन्तमें मिलते हैं। वा, अन्तमें रामनाम स्मरण नहीं होता है। वा, अन्तमें आपके नामका स्मरण करके फिर संसारमें नहीं आते, परमगति प्राप्त करते हैं। गणपति उपाध्यायजी केवल अन्तिम भाव देते हैं। यथा—*'जन्म जन्म मुनि जतन करि अंतकाल कहि राम। आवत नहिं संसार महँ जात तुम्हारे धाम॥'* कोई-कोई यह अर्थ करते हैं कि राम अन्तमें कहते हैं, पर वे इस तरह नहीं आ खड़े होते जैसे आप खड़े हैं।

टिप्पणी—१ मुनिलोग अन्तमें रूपकी प्राप्तिके लिये यत्न नहीं करते, क्योंकि जब जन्मभर यत्न करनेपर भी अन्तमें नाम ही मुखसे नहीं निकल पाता तब रूपकी प्राप्ति भला कैसे हो सकती है? अन्तमें *'राम'* कहनेसे मुक्ति होती है, यथा—*'जाकर नाम मरत मुख आवा। अधमउ मुकुत होइ श्रुति गावा॥'* (३। ३१। ६)

टिप्पणी—२ *'जासु नाम बल संकर कासी।…'* इति। (क) 'शंकर' नाम दिया क्योंकि सबको अविनाशिनी गति देकर सबका कल्याण करते हैं। शं=कल्याण। (ख) *'अविनाशी गति'* का भाव कि जो मुक्ति केवल ज्ञानसे प्राप्त होती है, यथा—*'जे ज्ञानमानबिमत्त तव भवहरनि-भक्ति न आदरी। ते पाइ सुरदुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥'* (७। १३) वैसी मुक्ति शिवजी नहीं देते, क्योंकि वह मुक्ति अविनाशिनी नहीं है, वरन् अविनाशिनी मुक्ति देते हैं—*'जहँ ते नहिं फिरे।'* ['समगति' अर्थात् कीट, पतंग सबको एक-सी मुक्ति देते हैं, यथा—*'आकर चारि जीव जग अहहीं। कासीं मरत परमपद लहहीं॥'* (१। ४६) *'जो गति अधम महामुनि दुर्लभ कहत संत श्रुति सकल पुरान। सोइ गति मरनकाल अपने पुर देत सदासिव सबहि समान॥'* तथा—*बेदबिदित तेहि पद पुरारिपुर कीट पतंग समाहीं।'* (विनय० ३,४)]

टिप्पणी—☞ ३ मुनिलोग अन्तमें 'राम' कहकर मुक्तिकी प्राप्ति चाहते हैं और महादेवजी अन्तमें राम-नाम सुनाकर मुक्त करते हैं। यह कहकर जनाया कि अन्तमें रामनाम कहनेसे या सुननेसे, दोनों ही प्रकारसे

मुक्ति होती है। [यह भाव बालिश है, केवल काशीमें, दाहिने कानमें स्वयं शिवजी महामन्त्रका उपदेश करेंगे तो ही मुक्ति मिलती है, अन्य स्थानमें शिवजी सुनावें तो भी न मिलेगी। *'मुक्ति जन्म महि जानि'* और 'रा० उ० ता० उपनिषद्' देखियेगा। (प्रज्ञानानन्द)]

टिप्पणी—४ *'मम लोचन गोचर सोइ आवा।'* इति। भाव कि मुनियों और काशीनिवासियोंसे मेरा भाग्य विशेष उत्तम है, मुझे उनकी अपेक्षा अधिक लाभ प्राप्त है। मुनियोंको अन्तमें रामनामकी प्राप्ति नहीं है और काशीवासियोंको केवल नामकी प्राप्ति होती है, रूपकी नहीं; और मुझको नाम और रूप दोनों प्राप्त हैं। यह सुनकर श्रीरामजी निरुत्तर हो गये; अतः न बोले।

मा० म०—भाव कि आपका यह रूप जो जटाओंकी छटासे परिपूर्ण है और जिसके करकमलमें बाण कम्पायमान हो रहा है, और जो इस समय विरह, सख्य और वात्सल्य रसोंसे परिपूर्ण हैं ऐसे समाज-संयुक्त यदि आपको मैं देखता रहूँ तो देह रखना उत्तम ही है, पर ऐसा कहाँ सम्भव है?

नोट—३ इन चौपाइयोंसे मिलते-जुलते श्लोक अ० रा० में ये हैं—**'साक्षात्त्वच्छरघातेन विशेषेण तवाग्रतः। त्यजाम्यसून्महायोगिदुर्लभं तव दर्शनम्॥ यन्नाम विवशो गृह्णन् म्रियमाणः परं पदम्। याति साक्षात्स एवाद्य मुमूर्षोर्मे पुरः स्थितः॥'** (२। ६६-६७) अर्थात् हे प्रभो! आपका दर्शन तो बड़े-बड़े योगियोंको भी अत्यन्त दुर्लभ है, बड़े भाग्यकी बात है कि मैं आपहीके बाणसे बिद्ध होकर फिर आपहीके सामने प्राण छोड़ रहा हूँ। मरते समय विवश होकर भी जिनका नाम लेनेसे पुरुष परमपद प्राप्त कर लेता है, वही आप आज इस अन्तिम घड़ीपर साक्षात् मेरे सामने विराजमान हैं। *'मम लोचन गोचर सोइ आवा।'* की जोड़में **'साक्षात्स एवाद्य मुमूर्षोर्मे पुरः स्थितः।'** यह स्पष्ट है। शेषमें भावसाम्य है।

छंद—सो नयन गोचर जासु गुन नित नेति कहि श्रुति गावहीं।
जिति पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं॥
मोहि जानि अति अभिमान बस प्रभु कहेउ राखु सरीरहीं।
अस कवन सठ हठि काटि सुरतरु बारि करिहि बबूरहीं॥ १॥

अर्थ—जिनका गुण *'नेति'* (=इतना ही नहीं है, यही नहीं है जो हमने कहा, इसकी इति नहीं) कहकर श्रुतियाँ निरन्तर गाती हैं और जिन्हें पवन और मनको जीतकर एवं मन और इन्द्रियोंको निरस (रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श पञ्चविषयोंसे विरक्त) करनेपर मुनिलोग कभी कहीं ध्यानमें पाते हैं, वही प्रभु मेरे नेत्रोंके विषय हुए अर्थात् मुझे प्रत्यक्ष देखनेको मिले। मुझे अतिशय अभिमानके वश जानकर, हे प्रभो! आपने शरीर रखनेको कहा परन्तु ऐसा कौन शठ होगा जो हठपूर्वक कल्पवृक्षको काटकर उससे बबूरकी बारी बनावेगा, अर्थात् उससे बबूलको रूँधेगा॥ १॥

नोट—१ प्राण, अपान, उदान, व्यान और समान ये पञ्चप्राण वा पञ्चपवन कहलाते हैं। प्राण=वायु। पाँचों पवनोंको ब्रह्माण्डपर चढ़ा लेना पवनको जीतना कहलाता है। मनको एकाग्र कर लेना मनको जीतना कहा जाता है। मन *'जिति'* और *'निरस करि'*, दोनोंके साथ लगता है। विषयोंसे विरक्त होना मनका निरस होना है, यथा—*'रे मन जग सों निरस ह्वै सरस राम सों होहि। भलो सिखावन देतु है निसिदिन तुलसी तोहि॥'* (दो० ५१)

टिप्पणी—१ *'जिति पवन मन.....'* इति। पवन, मन, गो और ध्यानको क्रमसे कहा; क्योंकि प्रथम जब पवनको जीतते हैं तब मनको जीता जाता है और मनको जीत लेते हैं तब इन्द्रियाँ विषयरससे रहित होती हैं। जब पवन, मन और इन्द्रियाँ जीत ली जाती हैं तब ध्यान लगता है। तात्पर्य कि जिस प्रभुका नाम मुनियोंको दुर्लभ है, जिसके गुण वेदोंको दुर्लभ हैं और जिसका ध्यान योगियोंको दुर्लभ है, वही मुझको साक्षात् प्राप्त हैं। [*'मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं'* यथा—*'जे हर हिय नयनन्हि कबहुँ निरखे नहीं अघाइ।'* जब शङ्करजीका यह हाल है तब मुनियोंकी क्या कही जाय!] पवन-मन दोनों एक साथ जीते

जाते हैं, अतः इन दोनोंको संग रखा, यथा—'**पवनो बध्यते येन मनस्तेनैव बध्यते। मनस्तु बध्यते येन पवनस्तेन बध्यते**॥' अर्थात् जिससे पवन बाँधा जाता है, उसीसे मन बाँधा जाता और जिससे मन बाँधा जाता है उसीसे पवन बाँधा जाता है। पुनः, यथा—'**दुग्धाम्बुवत्सम्मिलितावुभौ तौ तुल्यक्रियौ मानसमारुतौ हि। यतो मनस्तत्र मरुत्प्रवृत्तिः यतो मरुत्तत्र मनःप्रवृत्तिः**॥' (हठप्रदीप) अर्थात् मन और पवन दोनों दूध और पानीकी तरह मिले हुए हैं, दोनोंका कार्य एक ही है, क्योंकि जहाँ मन है वहाँ पवनकी पहुँच है और जहाँ पवन है वहाँ मनकी पहुँच है।

प० प० प्र०—इसमें पवनका उल्लेख प्रथम किया है, अतः हठयोग ही सूचित किया है। मनके जयसे निर्विकल्प समाधि सूचित की गयी। ***'पवन मन'*** का जीतना कहकर भी ***'निरस करि गो'*** कहनेमें भाव यह है कि '**इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः**।' (गीता २। ६०) ***'इंद्री द्वार झरोखा नाना। तहँ तहँ सुर बैठे करि थाना॥ आवत देखहिं बिषय बयारी। ते हठि देहिं कपाट उघारी॥'*** अतः जबतक '**वशेऽहि यस्येन्द्रियाणि**' सिद्ध न होगा तबतक पवन मनोजय किया हुआ भी न किया हुआ-सा ही है।

टिप्पणी—२ ***'मोहि जानि अति अभिमान बस'''*** इति। (क) प्रथम प्रभुने वालिको अति अभिमानी कहा, यथा—***'मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना।'*** इसीपर वालि यह कह रहा है कि ***'मोहि जानि अति'''।'*** (ख) ***'प्रभु'*** सम्बोधनका भाव कि आप समर्थ हैं, मेरे शरीरको अचल कर रख सकते हैं।

पं० रामकुमारजी—***'काटि सुरतरु बारि करिहि बबूरहीं॥'*** इति। अन्त समय भगवत्-प्राप्ति होना कल्पवृक्षके समान है, क्योंकि भगवान् चारों फलोंके दाता हैं। उनसे तनकी अचलता लेना यही कल्पवृक्षसे बबूरका रूँधना है। तनको बबूर कहा, क्योंकि यह बबूरके समान दुःख दाता है, कर्मरूपी काँटोंसे भरा हुआ है। कल्पवृक्षसे बबूर रूँधना शठता है। अतः कहा कि कौन शठ ऐसा करेगा? यहाँ यह शङ्का होती है कि वालि तो मुक्ति चाहता नहीं, वह तो जन्म-जन्ममें रामपदानुराग चाहता है, तब वह यह तन क्यों नहीं रखता? इसी तनमें अनुराग करे?, इसका समाधान यह है कि प्रभुने वालि-वधकी प्रतिज्ञा की थी, इसीसे वह इस तनको रखना नहीं चाहता। (भक्त प्रभुकी प्रतिज्ञाकी रक्षा करते हैं, वैसे प्रभु भक्तकी प्रतिज्ञाकी रक्षा करते हैं।)

श्रीनंगेपरमहंसजी—श्रीरामजीने वालिसे कहा कि तुम प्राणको रखो, मैं तुम्हारे शरीरको अचल करता हूँ। विषय-सुख भोगनेके लिये प्राण रखना बबूरका पेड़ है। इस समय मुक्ति न ले लेना सुरतरुका काटना है। और मुक्तिके बदले शरीरको अचल करना बबूरकी रुन्हानि करना है। भाव कि मैं मुक्तिको छोड़कर विषयभोगके लिये शरीर अचल करना नहीं चाहता। [☞ मिलान कीजिये—***'अपनेहि धाम नाम सुरतरु तजि बिषय बबूर बाग मन लायो।'*** (वि० २४४)]

मा० म०—सन्दर्भ यह कि आप सुरतरुरूप परधाम देनेमें डरते हैं और बबूरवत् इस शरीरको रखनेको कहते हैं तो अब मैं यही माँगता हूँ कि वह मत दीजिये।

छंद—अब नाथ करि करुना बिलोकहु देहु जो बर माँगऊँ।
जेहि जोनि जन्मौं कर्मबस तहँ रामपद अनुरागऊँ॥
यह तनय मम सम बिनय बल कल्यानप्रद प्रभु लीजिए।
गहि बाँह सुर नर नाह आपन दास अंगद कीजिए॥ २॥

अर्थ—हे नाथ! अब मुझपर करुणा करके देखिये और जो वर माँगता हूँ उसे दीजिये। हे श्रीराम! कर्मवश जिस योनिमें मेरा जन्म हो वहाँ रामपदमें प्रेम करूँ। हे प्रभो! हे कल्याणदाता! यह मेरा पुत्र विनय और बलमें मेरे ही समान है, इसकी बाँह पकड़ लीजिये, (अर्थात् मैं इसे आपको सौंपता हूँ) और हे सुरनरनाह! अङ्गदका हाथ पकड़कर इसे अपना दास बनाइये॥ २॥

टिप्पणी—१ ***'अब नाथ करि करुना बिलोकहु'*** के भाव—(क) आपने मुझसे शरीर रखनेको कहा;

इससे पाया गया कि मुझपर आपकी कृपादृष्टि नहीं है; अब कृपादृष्टि कीजिये। (ख) मैं आपके आश्रितसे लड़ा, आपको दुर्वचन कहे; ये अपराध क्षमा कीजिये। वाल्मी० में भी कहा है—**'यदयुक्तं मया पूर्वं प्रमादाद्वाक्यमप्रियम्। तत्रापि खलु मां दोषं कर्तुं नार्हसि राघव।'** (१८। ४६-४७) (ग) वालिने श्रीरामजीके नेत्र अरुण देखे, यथा—*'अरुन नयन सर चाप चढ़ाये।'* इससे जाना कि मुझपर रामजी क्रुद्ध हैं। अतएव कहा कि अब करुणावलोकन कीजिये अर्थात् मुझपर क्रोध न कीजिये।

टिप्पणी—२ *'देहु जो बर माँगऊँ।'* अर्थात् जो आपने देनेको कहा—*'अचल करौं तन'*—वह मुझे नहीं चाहिये। उसके बदलेमें जो वर मैं माँगता हूँ, वह दीजिये।

टिप्पणी—३ कृपादृष्टि कराके तब रामपदानुराग माँगा क्योंकि बिना रामकृपाके रामपदमें अनुराग नहीं होता।

नोट—१ *'यह तनय*''' *'* इति। (क) *'यह'* अंगुल्यानिर्देश है। इससे जनाया कि वालिके पृथ्वीपर गिरनेपर अङ्गद वहाँ पहुँच गया था। श्रीरामजीका उत्तर समाप्त न होने पाया था कि वह वहाँ आ गया था। (ख) *'तनय'* से जनाया कि यह मेरा ही पुत्र है। *'तनय मम'* कहकर जनाया कि इसमें मेरा ममत्व है। ममत्वका कारण है कि यह *'मम सम—'* है। पुनः, (ग) *'मम सम बिनय बल'* अङ्गदकी यह बड़ाई करनेका भाव यह है कि यह आपका कार्य करने योग्य है। *'कल्यानप्रद प्रभु'* का भाव कि आप कल्याण करनेको समर्थ हैं, आप इसका कल्याण करें। (पं० रा० कु०) (घ) *'लीजिए गहि बाँह',* और *'दास आपन कीजिए'* शब्दोंमें वाल्मीकीयके **'न चात्मानमहं शोचे न तारां नापि बान्धवान्। यथा पुत्रं गुणज्येष्ठमङ्गदं कनकाङ्गदम्॥' 'स ममादर्शनाद्दीनो बाल्यात्प्रभृति लालितः। तटाक इव पीताम्बुरुपशोषं गमिष्यति॥'''राम भवता रक्षणीयो महाबलः॥' सुग्रीवे चाङ्गदे चैव विधत्स्व मतिमुत्तमाम्।'''''** (४। १८। ५०—५३) इन श्लोकोंका भाव झलक रहा है। वह कहता है कि 'मुझे अपने वा तारा अथवा बान्धवोंके लिये शोक नहीं है, शोक है स्वर्णका अङ्गद पहननेवाले अङ्गदका। इसे मैंने बाल्यावस्थासे ही पाला-पोसा है। मुझे न देखकर यह अवश्य दुःखित होगा। जैसे जलके निकल जानेसे तालाब सूख जाता है वैसे ही यह सूख जायगा। अतएव आप इसकी रक्षा कीजियेगा। सुग्रीव और अङ्गदके विषयमें आप समान भाव रखें क्योंकि आप रक्षक हैं।'—यह शंका वालिके हृदयमें थी, यह *'बाँह गहि लीजिए' 'दास आपन कीजिए'* से जनाया। सुग्रीव दास हैं, यथा—*'सो सुग्रीव दास तव अहई।'* (४। ४। २) अतः अङ्गदको अपना दास बनाइये कहकर वाल्मी० का भाव जनाया कि इन दोनोंमें समान भाव रखियेगा। दोनों दास होनेसे समान हो जायँगे।

टिप्पणी—४ **'सुरनरनाह'** अर्थात् आप देवता और मनुष्य सबके रक्षक हैं, इसकी भी रक्षा कीजिये। **'सुर नर'** को कहा, असुरको न कहा, क्योंकि असुरोंको मारकर सुरनरकी रक्षा करते हैं। पुनः भाव यह कि सुरनर आपकी सेवा करते हैं तब बेचारा अङ्गद क्या है जो सेवा करेगा; पर मेरे वर माँगनेसे इसे अपना दास बनाकर अपने साथ सेवामें रखिये। अभिप्राय यह कि सुग्रीवके साथ (अर्थात् उसकी सेवामें) यह न रहे।

टिप्पणी—५ इस प्रसङ्गमें वालिके अनेक गुण कहे हैं—

१ शूरता—*'सुनत बालि क्रोधातुर धावा।'*

२ युद्धमें निपुणता—*'भिरे उभौ बाली अति तर्जा। मुठिका मारि महाधुनि गर्जा॥'*

३ बल—*'मुष्टि प्रहार बज्र सम लागा।'*

४ धैर्य—*'पुनि उठि बैठ देखि प्रभु आगे।'*

५ भक्ति—*'पुनि पुनि चितइ चरन चित दीन्हा।'*

६ ज्ञान—*'सुफल जनम माना प्रभु चीन्हा।'*

७ वचन चातुरी—*'धर्महेतु अवतरेउ गोसाईं'* से *'सुनत राम अति कोमल बानी'* तक।

८ पाण्डित्य—*'जन्म जन्म मुनि जतन कराहीं'* से *'अस कवन सठ'* तक।

९ बुद्धि—*'अब नाथ करि करुना''''* से *'गहि बाँह सुरनर नाह'''* तक।

१० सावधानता—*'रामचरन दृढ़ प्रीति करि…'*

११ भाग्य—*'राम बालि निज धाम पठावा।'*

१२ प्रजापालकता—*'नगर लोग सब ब्याकुल धावा।'*

नोट—२ *'गहि बाँह'* में भाव यह है कि बाँह गहेकी लाज सबको होती है। *'बाँह गहेकी लाज'* मुहावरा है। जैसा दोहावलीमें भी कहा है—*'तुलसी तृन जलकूल को निरबल निपट निकाज। कै राखै कै सँग चलै बाँह गहेकी लाज॥'* (५४४) बाँह पकड़ लेनेसे फिर इसकी बराबर रक्षा करना उनका कर्तव्य हो जायगा। बाँह पकड़ना ही शरणमें लेना है। पुनः, इसमें यह भी भाव है कि सुग्रीवके बाद इसीको राज्य मिले।

प० प० प्र०—वालि और सुग्रीव दोनों भाई-रूपमें तो समान ही थे, *'एक रूप तुम्ह भ्राता दोऊ'*; पर साथ-ही-साथ वे अनेक गुणोंमें भी समान थे। तथापि शौर्य, धैर्य आदि अनेक गुणोंमें वालिकी श्रेष्ठता स्पष्ट देखनेमें आती है।

सुग्रीवका प्रेम स्वार्थसाधनसे हुआ।	१ वालिमें प्रेम बन्धुविरोधसे हुआ।
सुग्रीवने राज्य अपने लिये पाया।	२ वालिने अपना राज्य गँवाया पर पुत्र-पौत्रादिके लिये व्यवस्था कर दी।
सुग्रीवका रामप्रेम दृढ़ न रहा।	३ वालिने दृढ़ प्रीति प्राप्त की।
यह विषयोंमें आसक्त हुआ।	४ इसने परमधाम प्राप्त किया।
सुग्रीवको सुयश मिला।	५ वालिको अपकीर्ति मिली।

दो०—रामचरन दृढ़ प्रीति करि बालि कीन्ह तनु त्याग।
सुमनमाल जिमि कंठ ते गिरत न जानै नाग॥१०॥

अर्थ—श्रीरामजीके चरणोंमें दृढ़ प्रीति करके वालिने (इस प्रकार) देह त्याग दिया जैसे हाथी अपने गलेसे फूलकी मालाका गिरना न जाने। अर्थात् वालिको तनत्याग समय दुःख न हुआ॥१०॥

टिप्पणी—१ *'दृढ़ प्रीति'* इति। जब सबकी ममता त्यागकर श्रीरामपदारविन्दमें चित्त लगे तब प्रीति दृढ़ कही जाती है। वालिने प्रथम रामचरणमें अनुराग माँगा, पीछे पुत्रको सौंपा। पुत्रके स्नेहमें चित्तकी वृत्ति चली गयी थी। उसे वहाँसे खींचकर पुनः रामचरणमें लगाया, यही दृढ़ प्रीति करना है यथा—*'जननी जनक बंधु सुत दारा। तन धन भवन सुहृद परिवारा॥ सबकै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँधि बरि डोरी॥'*

टिप्पणी—२ रामपदमें प्रेम करनेसे जन्म-मरणका क्लेश नहीं व्यापता; इसीसे वालिको मरणकालका दुःख न हुआ। देह सुमनमाला और जीव हाथी है।

गोस्वामीजी श्रीरामजीके साथ वालि और सुग्रीवका व्यवहार समान वर्णन करते हैं—

सुग्रीव	वालि
१ *जब सुग्रीव राम कहँ देखा।*	*पुनि उठि बैठ देखि प्रभु आगे।।*
२ *अतिसय जन्म धन्य करि लेखा।।*	*सुफल जन्म माना प्रभु चीन्हा।।*
३ *जोरी प्रीति दृढ़ाइ।।*	*चरन दृढ़ प्रीति करि*
४ *बार बार नावै पद सीसा।*	*पुनि पुनि चितइ चरन चित दीन्हा॥*
५ *प्रभुहि जानि मन हरष कपीसा।।*	*सुफल जन्म माना प्रभु चीन्हा॥*
६ *अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि भजन करौं दिनराती॥*	*अब नाथ करि करुना बिलोकहु। देहु जो बर मागऊँ। जेहि जोनि जन्मौं कर्म बस तहँ रामपद अनुरागऊँ॥*

७ *सब प्रकार करिहौं सेवकाई।* *आपन दास अंगद कीजिए॥*
८ सुग्रीव रामजीके शरण हुआ वालि शरण हुआ—*'अंतकाल गति'*

[९ वहाँ *'जोरी प्रीति दृढ़ाइ'* में दोहा है, वैसे ही यहाँ *'राम चरन दृढ़ प्रीति करि'* में दोहा है। वहाँ *'मेली कंठ सुमनकी माला',* वैसे ही यहाँ इन्द्रदत्त माला। वहाँ सुग्रीवके शरीरकी पीड़ा गयी और यहाँ मन रामचरणमें है इससे शरीरका दुःख कहाँ? (प्र०)]

इसीसे श्रीरामजीने भी दोनोंके साथ समान व्यवहार किये—

'परसा सुग्रीव सरीरा'	१ *'बालि सीस परसेउ निज पानी'*
'सुनि सेवक दुख दीनदयाला'	२ *'सुनत राम अति कोमल बानी'*
'जेहि सायक मारा मैं बाली। तेहि सर हतौं मूढ़ कहँ काली॥'	३ *'सुनि सुग्रीव मैं मारिहौं बालिहि एकहि बान'*
४ दोनोंके अर्थ रामजीने प्रतिज्ञा छोड़ी, यथा—	
'भय दिखाइ लै आवहु तात सखा सुग्रीव।'	४ *'अचल करउँ तन राखहु प्राना'*
दोनोंको राज्य दिया—*'राज दीन्ह सुग्रीव कहँ'*	५ *'अंगद कहँ जुबराज।'*
सुग्रीवको किष्किन्धा-धाम दिया।	६ वालिको निज धाम दिया।

इस प्रकार *'समदरशी रघुनाथ'* यह वचन चरितार्थ हुआ।

प्र०—वाल्मी० में इन्द्रदत्त स्वर्णमाला सुग्रीवको देकर वालि मरा है। (यथा—'**इमां च मालामाधत्स्व दिव्यां सुग्रीव काञ्चनीम्। उदारा श्रीः स्थिता ह्यस्यां संप्रजह्यान्मृते मयि॥**' (२२। १६) अर्थात् सुग्रीव! यह दिव्य सोनेकी माला लो। इसमें प्रशस्त विजयलक्ष्मी वर्तमान हैं। मेरे मरनेपर इसकी श्री नष्ट हो जायगी। अतएव इसे तुम धारण करो।)—इस बातको गुप्त रीतिसे गोस्वामीजीने, *'सुमनमाल जिमि कंठते गिरत'* इन शब्दोंसे जना दिया है।

पं० श्रीकान्तशरणजी—किष्किन्धाकाण्ड रामायणका हृदय है। इससे ग्रन्थकारने इसमें अपना (वैष्णवोंका) परम रहस्यरूप पञ्च संस्कार गुणरूपसे सजा रखा है। नाम, कण्ठी, ऊर्ध्वपुण्ड्र, मुद्रा (धनुष-बाण) और मन्त्र यही पञ्च संस्कार हैं।

नामसंस्कार—वालिके कहनेपर कि *'आपन दास अंगद कीजिए',* श्रीरामजीने अङ्गदकी बाँह पकड़ी और अपना दास माना।

कण्ठीसंस्कार—*'मेली कंठ सुमनकी माला'* में 'सुमनकी' पद श्लिष्ट है। *'मनकी'* मालाके छोटे-छोटे दानेको कहते हैं जिनकी कण्ठी बनती है। 'सु' उपसर्ग यहाँ उत्तम काष्ठके अर्थसे तुलसीकी मनकीका बोधक है। उसकी माला जब कण्ठमें मेली जायगी तो दोहरी होनेपर ही कण्ठसे संलग्न रहेगी; अन्यथा हृदयपर लटक जायगी।

ऊर्ध्वपुण्ड्रसंस्कार,—ऊर्ध्वपुण्ड्र 'हरिपदाकृति' ही है। वालिने जो *'पुनि पुनि चितइ चरन चित दीन्हा'* उसमें यही भाव है। ऊर्ध्वपुण्ड्रसे वैष्णवलोग अपने जन्मकी सफलता मानते हैं, वैसे ही वालिने *'सुफल जनम माना'।* इसे ही *'प्रभु चीन्हा'* अर्थात् प्रभुका चिह्न भी मानते हैं।

मुद्रासंस्कार—बाणसे प्रभुने वालिके समस्त पापोंका नाश किया और उसे परम पद भी दिया। बाणके माहात्म्यके साथ-साथ धनुषका भी माहात्म्य है।

मन्त्रसंस्कार—*'जन्म जन्म'''अबिनासी'* में एक अर्धालीमें मन्त्रका जपना और दूसरीमें श्रीशिवजीके द्वारा कानमें मन्त्रका सुनाया जाना कहा गया है। मन्त्र और नाम अभेद हैं। *'जन्म-जन्म'* अर्थात् नित्य प्रातःकाल, क्योंकि सोकर जागना जन्मके समान माना जाता है, इसीसे प्रातःकाल प्राणप्रतिष्ठा और भूतशुद्धि आदि विधियाँ की जाती हैं। *'मुनि'* अर्थात् मन्त्रका अर्थ मनन करते हुए। *'जतन कराहीं'* अर्थात् गुप्त रूपसे जप करते हैं, *'अंत राम कहि'* अर्थात् अन्तकालतक नित्य ऐसे 'राम' कहते (जपते) हुए आवत नाहीं अर्थात् फिर संसारमें नहीं आते। मन्त्रोद्धार सर्वत्र गुप्त ही रहता है, वैसे यहाँ भी है।

राम बालि निज धाम पठावा। नगर लोग सब ब्याकुल धावा॥१॥
नाना बिधि बिलाप कर तारा। छूटे केस न देह सँभारा॥२॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीने वालीको 'निज धाम'को भेज दिया। नगरके सब लोग व्याकुल होकर दौड़े॥१॥ तारा अनेक प्रकारसे विलाप कर रही है, बाल छूटे हुए हैं, देहकी सँभाल नहीं है॥२॥

टिप्पणी—१ *'निज धाम'* इति। वालिने रामदर्शन पाया, रामबाणसे मृत्यु पायी और रामचरणमें दृढ़ प्रीति करके तन त्याग किया; अतः प्रभुके 'निज-धाम' को गया। अध्यात्म २। ७१ में लिखते हैं कि वालि रघुकुल श्रेष्ठ रामजीके बाणसे मरा और उनके शीतल और सुखद करकमलसे उसका स्पर्श हुआ, इससे वह तुरंत वानरदेह छोड़कर परमहंसोंको भी दुर्लभ परम-पदको प्राप्त हुआ और उसके पहले, श्लोक ७० में, लिखा है कि वानरदेह छोड़कर तुरंत इन्द्रकी देहत्वको प्राप्त हुआ, यथा—'**त्यक्त्वा तद्वानरं देहममरेन्द्रोऽभवत्क्षणात्॥ वाली रघूत्तमशराभिहतो विमृष्टो रामेण शीतलकरेण सुखाकरेण। सद्यो विमुच्य कपिदेहमनन्यलभ्यं प्राप्तं परं परमहंसगणैर्दुरापम्॥** (७०-७१)—[पर वालिके वचन हैं कि मैं आपके उत्तम पदको जाता हूँ इससे 'निजपद' भगवान्का ही लोक हुआ। वाल्मीकिमें प्रभुने तारासे कहा है कि उसे स्वर्ग मिला। यहाँ प्रभु सामने खड़े हैं इससे 'निजधाम' से हमें साकेत वा वैकुण्ठ लोक ही जाना अधिक ठीक जान पड़ता है। श्रीरामका 'निजधाम' तो 'रामधाम' साकेत (अयोध्या) ही है। अतः मानसके अनुसार उसको साकेत लोककी प्राप्ति हुई। इसीको भगवान् रामने *'मम धाम'* कहा है। यथा—*'तनु तजि तात जाहु मम धामा।'* (३। ३१। १०) *'पुनि मम धाम पाइहहु जहाँ संत सब जाहिं।'* (६। ११५) *'अति प्रिय मोहि इहाँ के बासी। मम धामदा पुरी सुखरासी॥'* (७। ४। ७) जो धाम जटायु और विभीषणको देनेको कहा वही 'निजधाम' वालिको दिया। 'निजधाम' दूसरा हो ही नहीं सकता। भगवान्के पूजक भगवान्को ही, उनके ही धामको प्राप्त होते हैं, यह तो साधारण बात है। भगवद्वचन ही है '**यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्।**' (गीता ९। २५) '**मद्भक्ता यान्ति मामपि।**' (गीता ७। २३) '**मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।**' (गीता ८। १६) पर यहाँ तो कवि स्पष्ट कहते हैं कि *'निज धाम पठावा'* अध्यात्मका मत लेना आवश्यक नहीं है।]—मतभेदके कारण *'निज धाम'* पद दिया गया जिसमें सर्वमतकी समाई है।

नोट—१ *'नगर लोग सब ब्याकुल धावा'* इति। इन शब्दोंसे वाल्मी० और अ० रा० दोनोंके भाव कह दिये गये। श्रीरामजीको धनुष लिये देख नगरवासी वानर डर गये। अपने राजाको मारा गया देख वे व्याकुल हो गये, डरे कि अब हम भी मारे जायँगे। अतः वे किष्किन्धामें भागकर गये, यथा—'**दुद्रुवुर्वानराः सर्वे किष्किन्धां भयविह्वलाः।**' (अ० रा० ३। १) '**ये त्वङ्गदपरीवारा वानरा हि महाबलाः। ते सकार्मुकमालोक्य रामं त्रस्ताः प्रदुद्रुवुः॥**' (वाल्मी० १९। ५) वे इतने डरे हुए थे कि ताराको उन्हें समझाना पड़ा कि सुग्रीवने राज्यके लोभसे मेरे पतिको मरवा डाला तो तुम क्यों डरते हो। उन्होंने कहा कि हमलोगोंने सदा सुग्रीवको इस राज्यकी प्राप्तिमें सफल होनेसे वञ्चित किया है, अतः हमें भय है। वे अपने पक्षके वानरोंके साथ अब इस किलेमें प्रवेश करेंगे। इत्यादि। अ० रा० के अनुसार इन्हीं वानरोंने ताराको वालिके मारे जानेका समाचार दिया—'**तारामूचुर्महाभागे हतो वाली रणाजिरे।**' वाल्मी० से अनुमान होता है कि अङ्गदने माँको खबर दी, अतः वह अङ्गदसहित वहाँसे चली। यथा—'**सा सपुत्राऽप्रियं श्रुत्वा वधं भर्तुः सुदारुणम्। निष्पपात भृशं तस्मादुद्विग्ना गिरिकन्दरात्॥**' (१९। ४) दोनों मतोंकी रक्षा मानसमें कर दी गयी।

नोट—२ *'नाना बिधि बिलाप कर'*' इति। (क) यहाँ ताराका चलना और पतिके शवके पास पहुँचना न कहकर क्रमसे जनाया कि पहले नगरके सब लोग व्याकुल होकर दौड़े, उनके पश्चात् साथ ही तारा समाचार सुनकर वहींसे विलाप करती चली (ये दोनों बातें वालिके मरते ही तुरत हुईं)। यथा—'**एवमुक्त्वा प्रदुद्राव रुदती शोकमूर्च्छिता। शिरश्चोरश्च बाहुभ्यां दुःखेन समभिघ्नती।**' (वाल्मी० १९। २०) (ख) 'तारा' का विलाप सर्ग २० श्लोक ४—२५; सर्ग २३ श्लोक २—१७, २२—३०; और सर्ग २४ श्लोक ३३—४० में जो दिया गया है वह सब यहाँ 'नाना विधि' से कविने सूचित कर दिया है। वाल्मीकिजी लिखते

हैं कि वह कुररी पक्षीकी तरह विलाप कर रही थी—'**क्रोशन्तीं कुररीमिव।**' (१९। २८)

विलाप—क्या आज मुझे अपराधिनी समझकर नहीं बोल रहे हो? उठो, अच्छे बिछौनेपर सोओ। राजा पृथ्वीपर नहीं सोते। वसुन्धराधिप होनेसे आज आपको पृथ्वी बहुत प्रिय है जिससे मुझे छोड़कर उसपर पड़े हो। आज मैं बहुत दुःखी हूँ। अङ्गदका क्या हाल होगा, उसे आश्वासन दो, उसका सिर सूँघो। आप अपनी इन अनेक सुन्दरियोंको देखिये।''''' इत्यादि।

'तारा'—सुषेण वानरकी कन्या है। वालिकी स्त्री है। वालिने इसके विषयमें (वाल्मीकीयमें) सुग्रीवसे कहा है कि वह सूक्ष्म विषयोंके निर्णय करने तथा नाना प्रकारके उत्पातसूचक चिह्नोंको जाननेमें अत्यन्त निपुण है। वह सर्वज्ञा है। जिस कामके लिये वह अच्छा कह दे वह अवश्य ही सिद्ध होता है, उसकी सम्मति कभी विपरीत नहीं होती। वालिने पश्चात्ताप किया कि मैंने उसका कहा न माना, इसीसे मारा गया।

यह पञ्चप्रातःस्मरणीय स्त्रियोंमेंसे एक है, जिनका प्रातःकाल स्मरण माङ्गलिक और बड़े माहात्म्यका माना जाता है। वे ये हैं—'**अहल्या द्रौपदी तारा कुन्ती मंदोदरी तथा। पञ्चकं ना स्मरेन्नित्यं महापातकनाशनम्॥**' (आचारमयूख) पुराणोंके अनुसार ये पाँचों स्त्रियाँ परम पवित्र मानी जाती हैं। पञ्चकन्या पाठ प्राचीन नहीं है।

नोट—३ '***छूटे केस न देह सँभारा***' यह शोककी दशा है। शोकमें ज्ञान, धीरज और लज्जा—ये तीनों नहीं रह जाते, यथा—'***सोक बिकल दोउ राज समाजा। रहा न ज्ञान न धीरज लाजा॥***' ताराके ज्ञान न रह गया। इसीसे नाना विधिसे विलाप करती थी। धीरज न रहा इसीसे देहका सँभाल नहीं; और लाज न रही इसीसे केश छूटे हुए हैं।

तारा बिकल देखि रघुराया। दीन्ह ज्ञान हरि लीन्ही माया॥ ३॥

अर्थ—ताराको व्याकुल देखकर श्रीरघुनाथजीने उसे ज्ञान दिया और माया हर ली॥ ३॥

टिप्पणी—१ '***बिकल देखि***' का भाव कि श्रीरामजी कृपालु हैं, स्त्रीकी व्याकुलता देख दया आयी। अतः उसपर कृपा की। ज्ञानसे शोक दूर होता है, इसीसे ज्ञान दिया। यथा—'***सोक निवारेउ सबहि कर निज बिज्ञान प्रकास।***' (२। १५६) जैसे वसिष्ठजीने राजाके मरनेपर रानियोंकी व्याकुलता विज्ञानद्वारा दूर की थी।

टिप्पणी—२ प्रथम जब ज्ञान हो जाता है तब माया दूर होती है और मायाके हटनेपर भक्ति होती है, यथा—'***होइ बिबेक मोह भ्रम भागा। तब रघुबीर चरन अनुरागा॥***' श्रीरामजीके चरणोंमें अनुराग होना भक्ति है, मोहभ्रमका भागना मायाका दूर होना है और विवेक होना ज्ञान है। श्रीरामजीने ताराको ज्ञान दिया तब माया गयी और तत्पश्चात् उसने भक्ति माँगी।

पं०—प्रभु दीनदयाल हैं, उन्होंने सोचा कि मेरे सम्मुख भी इसे अज्ञान बना रहे तो योग्य नहीं, इसीसे ज्ञान देकर उसका अज्ञान हरण किया।

प० प० प्र०—(क) '***दीन्ह ज्ञान*****''''''' इति। '**ज्ञान दिया**' इस कथनसे स्पष्ट है कि ज्ञान दूसरेके देनेसे ही मिलता है, अपने यत्नसे साध्य नहीं है। यथा—'**दृष्टान्तो नैव दृष्टस्त्रिभुवनजठरे सद्गुरोर्ज्ञानदातुः**' (शतश्लोकी वेदान्तकेसरी), '***चितइ पितहि दीन्हेउ दृढ़ ज्ञाना।***' (६। १११। ५) (ख) श्रीदशरथजीको दृढ़ ज्ञान दिया है। ताराको दृढ़ ज्ञान नहीं दिया, केवल 'ज्ञान' देना कहा, क्योंकि दृढ़ ज्ञान दिया होता तो वह सुग्रीवकी स्त्री क्यों बन जाती। ताराको शब्द-शक्तिसे ज्ञान दिया, यह आगेकी अर्धालियोंसे स्पष्ट है और दशरथजीको '***चितइ दीन्हेउ***' अर्थात् दृष्टिशक्तिसे ज्ञान दिया। (ग) सुग्रीवजीके सम्बन्धमें '***उपजा ज्ञान बचन तब बोला***' कहा था। बोये बिना उपज नहीं होती। वहाँ बोनेवाले भगवान् ही हैं। उन्होंने संकल्पमात्रसे उन्हें ज्ञान दिया, ऐसा समझना चाहिये। अथवा, स्पर्शसे। कारण कि ज्ञान इन चार प्रकारोंसे ही दिया जाता है। यथा—'**गुरोरालोक्यमात्रेण स्पर्शात् सम्भाषणादपि। मनसा यस्तु संस्कारः क्रियते योगवर्त्मना॥**' इस संस्कारको शाम्भवी दीक्षा कहते हैं जिससे शम्भुत्व (शिवता, स्वरूप-स्थिति) प्राप्त होती है—'**देशिकानुग्रहेणैव शिवताव्यक्तकारिणी। सेयं तु शाम्भवी दीक्षा शिवादेशस्य कारिणी॥**'

छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित अति अधम सरीरा॥ ४॥
प्रगट सो तनु तव आगे सोवा। जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा॥ ५॥

अर्थ—पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश और पवन—इन पञ्चतत्त्वोंसे यह अत्यन्त अधम शरीर रचा गया॥ ४॥ वह शरीर प्रत्यक्ष तेरे सामने सोया हुआ है और जीव नित्य है; सो तुम किसके लिये रो रही हो॥ ५॥

टिप्पणी—१ *'छिति जल पावक'''* इति। शरीरकी रचना इसी क्रमसे होती है जैसा यहाँ लिखा है। प्रथम माताका रज पृथ्वी-तत्त्व है, पिताका वीर्य जलतत्त्व है। इनसे पिण्ड बनना अग्नि-तत्त्व है, पोल होना आकाश है और प्राण आना वायु है—भागवतके तृतीय स्कन्धमें इसका उल्लेख है। यथा—'**कर्मणा दैवनेत्रेण जन्तुर्देहोपपत्तये। स्त्रियाः प्रविष्ट उदरं पुंसो रेतःकणाश्रयः॥ कललं त्वेकरात्रेण पञ्चरात्रेण बुद्‍बुदम्। दशाहेन तु कर्कन्धूः पेश्यण्डं वा ततः परम्॥ मासेन तु शिरो द्वाभ्यां बाह्वङ्घ्र्याद्यङ्गविग्रहः। नखलोमास्थिचर्माणि लिङ्गच्छिद्रोद्भवस्त्रिभिः॥ चतुर्भिर्धातवः सप्त पञ्चभिः क्षुत्तृडुद्भवः। षड्भिर्जरायुणा वीतः कुक्षौ भ्राम्यति दक्षिणे॥**' (अध्याय ३१। १—४) अर्थात् जीवके पूर्वकृत कर्मोंका प्रवर्तक ईश्वर ही हैं। जीव उन्हीं कर्मोंके कारण शरीर-धारणके लिये पुरुषके बीजकणके आश्रयसे स्त्रीके गर्भमें प्रवेश करता है। पुरुषका वीर्य स्त्रीके गर्भमें जाकर एक रात्रिमें स्त्रीके रजमें मिल एकरूप हो जाता है। वीर्य और रजके मिले रूपको 'कलल' कहते हैं। फिर पाँच रात्रिमें पानीके बुल्लेके समान गोल हो जाता है, दस दिनमें बेरके फलके समान बड़ा और कठिन हो जाता है, फिर एक महीनेमें अण्डेके सदृश मांसपिण्ड बन जाता है। महीनेभरके बाद उसमें सिर निकलता है। दो मासमें बाहु, चरण आदि अङ्गोंका विभाग हो जाता है तथा तीन मासमें नख, लोम, अस्थि और स्त्रीत्व अथवा पुरुषतत्त्वके प्रदर्शक छिद्र उत्पन्न हो जाते हैं। चार मासमें सात धातुएँ प्रकट होती हैं। पाँचवेंमें भूख-प्यासकी उत्पत्ति, छठेमें जरायु (झिल्ली) से आवृत होकर माताकी कोखमें दक्षिण ओर घूमने लगता है।

नोट—१ यहाँ *'छिति जल पावक गगन समीरा'* यह क्रम है और सुन्दरकाण्ड ५९ (२) में *'गगन समीर अनल जल धरनी'* यह क्रम दिया है। भेदका कारण यह है कि सुन्दरकाण्डमें इन पाँचों तत्त्वोंकी उत्पत्तिके विचारसे जैसा उत्पत्तिका क्रम है वैसा ही कहा गया और यहाँ तत्त्वोंकी उत्पत्ति नहीं कहना है वरंच जिस क्रमसे शरीरकी रचनामें ये तत्त्व काममें आये वह क्रम रखा गया है, क्योंकि यहाँ रचना कह रहे हैं—*'पञ्च रचित'''*। तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्दवल्ली प्रथम अनुवाकमें पञ्चतत्त्वोंकी उत्पत्तिका क्रम इस प्रकार कहा गया है—'**तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी।**' अर्थात् सबके आत्मा सर्वप्रसिद्ध उस परमात्मासे पहले आकाशतत्त्व उत्पन्न हुआ। आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल और जलसे पृथ्वी उत्पन्न हुई।

नोट—२ *'अति अधम सरीरा'* इति। इस सम्बन्धमें पद्मपुराण भूमिखण्डके ययाति और मातलिका संवाद पढ़ने योग्य है। उसमें मातलिने बताया है कि 'आत्मा परमशुद्ध है। पर यह देह जो कर्मोंके बन्धनसे तैयार किया गया है नितान्त अशुद्ध है। वीर्य और रजका संयोग होनेपर ही किसी भी योनियोंमें देहकी उत्पत्ति होती है तथा यह सर्वदा मलमूत्रसे भरा रहता है। यह देह ऊपरसे पञ्चभूतोंद्वारा शुद्ध किया जानेपर भी भीतरकी गंदगीके कारण अपवित्र ही माना गया है। जिसमें पहुँचकर पञ्चगव्य और हविष्य आदि अत्यन्त पवित्र पदार्थ भी तत्काल अपवित्र हो जाते हैं, उससे बढ़कर अशुद्ध दूसरा क्या हो सकता है?—'**यं प्राप्यातिपवित्राणि पञ्चगव्यं हवींषि च। अशुचित्वं क्षणाद्यान्ति कोऽन्योऽस्मादशुचिस्ततः॥**' (६६। ६९) जिसके द्वारा निरन्तर क्षण-क्षणमें कफ, मूत्र आदि अपवित्र वस्तुएँ बहती रहती हैं, जिसके छिद्रोंका स्पर्श मात्र कर लेनेसे हाथको जलसे शुद्ध किया जाता है तथापि मनुष्य अशुद्ध ही बने रहते हैं, वह शुद्ध कैसे हो सकता है? मनुष्य अपने शरीरके मलको अपनी आँखों देखता है, उसकी दुर्गन्धका अनुभव करता है और उससे बचनेके लिये नाक भी दबाता है। किंतु मोहका कैसा माहात्म्य है कि शरीरके दोषोंको देखकर और सूँघकर भी उसको उससे वैराग्य नहीं होता। यह शरीर अत्यन्त अपवित्र है; क्योंकि जन्म-कालमें इसके अवयवोंको स्पर्श करनेसे शुद्ध मनुष्य भी अशुद्ध हो जाता है।

सम्भवत: उपर्युक्त दोषोंके कारण ही शरीर अधम कहा गया है। अन्यत्र भी इसे अधम कहा है, यथा—*'रहिहि न अंतहु अधम सरीरू।'* (२। १४४) *'अधम शरीर राम जिन्ह पाए।'*

नोट—३ *'अति अधम'* कहकर चार कोटियाँ जनायीं। उत्तम, मध्यम, अधम और अति अधम। महाकारण देह उत्तम है जिसमें स्वरूपानुभवकी स्थिति होती है। यह शुद्ध सत्त्वगुणात्मक होनेसे उत्तम है। (प० प० प्र०) (रा० प्र० और पं० रा० कु० जी 'सहज स्वरूप' को उत्तममें लेते हैं। (कारण शरीर मध्यम है। इसमें केवल अज्ञानावृत आनन्दमय स्थिति होती है जिसमें विपरीत ज्ञानका अभाव होता है। सूक्ष्म वा लिङ्ग-शरीर अधम है। यह सत्त्वरजोयुक्त होता है। और पाँच भौतिक स्थूल शरीर केवल तमोगुणी होनेसे अति अधम हैं। (प० प० प्र०); अथवा अस्थि, मांस आदिसे युक्त होनेसे अति अधम है (पं० रा० कु०)।

नोट—४ *'सरीरा'* इति। शरीर शब्द भी यहाँ उपयुक्त है। शरीरका अर्थ है 'जिनका नाश होता है (**शीर्यते**)।' अथवा जो दूसरोंका नाश करता है (**शृणाति**) वह स्थूल देह। (प० प० प्र०)

टिप्पणी—२ *'प्रगट सो तन तव आगे सोवा।'* *'प्रगट'* कहनेका भाव कि तन और जीव दो पृथक्-पृथक् वस्तुएँ हैं। इनमेंसे जीव प्रकट नहीं है, तन प्रकट है। इसके वास्ते क्यों रोती हो, यह तो सामने ही है। रहा जीव, सो नित्य है, उसका नाश नहीं। जिसका नाश नहीं उसके लिये रोना कैसे उचित है?

प० प० प्र०—*'प्रगट सो तन तव आगे सोवा'* इति। यहाँ यह न कहकर कि वह तन तेरे आगे प्रकट है *'तव आगे सोवा'* कहा। *'सोवा'* कहकर यहाँ वाल्मी० सर्ग २० व २३ के तारा-विलापोंको सूचित किया है। [ताराके **'रणे दारुणविक्रान्त प्रवीर प्लवतां वर। किमिदानीं पुरोभागामद्य त्वं नाभिभाषसे॥'** **'उत्तिष्ठ हरिशार्दूल भजस्व शयनोत्तमम्। नैवंविधाः शेरते हि भूमौ नृपतिसत्तमाः॥'** (२०। ४-५) अर्थात् रणमें घोर पराक्रम करनेवाले वानर श्रेष्ठ वीर! क्या मुझे अपराधिनी जानकर आज मुझसे नहीं बोल रहे हो। उठिये, उत्तम बिछौनोंपर सोइये। राजा पृथ्वीपर नहीं सोते। तथा **'भुजाभ्यां पीनवृत्ताभ्यामङ्गदोऽहमिति ब्रुवन्। अभिवादयमानं त्वामङ्गदं त्वं यथा पुरा॥ दीर्घायुर्भव पुत्रेति किमर्थं नाभिभाषसे।'** (२३। २५-२६) अर्थात् अङ्गद आपके चरणोंको पकड़कर प्रणाम करता है, आप उसको पहलेकी तरह आशीर्वाद क्यों नहीं देते कि 'आर्यपुत्र! दीर्घायु हो।' इत्यादि वाक्योंको लेकर *'सोवा'* शब्दका प्रयोग किया गया है]। भाव यह कि जैसे नित्यप्रति सो जानेपर वाली तुमसे बातचीत नहीं करता था वैसे ही इस समय भी बात नहीं करता है। उन-उन समयोंमें तुमने कभी शोक नहीं किया तब इस समय सोतेमें क्यों शोक करती हो? यदि वह कहे कि यह श्वासोच्छ्वास नहीं करता है इससे मैं रोती हूँ तो उत्तर है कि श्वासोच्छ्वास करना इसका स्वभाव ही नहीं है। वह तो सूक्ष्म देहका धर्म है जो नित्य है, विदेह कैवल्य प्राप्तितक रहता है। यदि कहे *'जीव'* चला गया इससे रोती हूँ तो उत्तर देते हैं कि जीव नित्य है उसमें तो स्त्री, पुरुष, पति, पत्नी आदि भेद नहीं हैं। जीव अप्रकट है। जिसे कभी तूने देखा भी नहीं उसके लिये शोक कैसा? उससे तूने वियोग कैसे मान लिया?

नोट—५ तनको 'प्रकट' कहकर तनकी पूर्व और पर-अवस्थाओं तथा जीवको अप्रकट जनाया। इस तरह इस शब्दसे **'अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत। अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥ आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः। आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥'** (गीता २। २८-२९) का भाव प्रकट कर दिया है। अर्थात् मनुष्यके शरीरकी आदि (अर्थात् पूर्व) अवस्था प्रत्यक्ष नहीं है और न मरणके बादकी अवस्था प्रत्यक्ष है; तब इनके विषयमें शोक कैसा? कोई एक ही इस आत्माको आश्चर्यकी भाँति देखता है, कोई एक ही इसका आश्चर्यकी भाँति वर्णन करता है और कोई एक ही इसे आश्चर्यकी भाँति सुनता है। पर सुनकर भी इसके यथार्थ स्वरूपको कोई नहीं जानता। भाव कि जब कोई इसे यथार्थ जानता ही नहीं तब इसके लिये शोक कैसा?

नोट—६ अर्जुनको उपदेश करते हुए भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भगवद्गीताके दूसरे अध्यायमें ऐसा ही कहा है—

'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे। गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥ ११॥

'न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ २०॥'

अर्थात् जिनका शोक न करना चाहिये तू उन्हींका शोक कर रहा है और पण्डितोंकी-सी बातें करता है! किसीके प्राण रहें चाहे जायँ, पण्डितलोग मरणशील शरीर और अविनाशी आत्माके लिये शोक नहीं किया करते। यह (आत्मा, जीव) न तो कभी जन्मता है न मरता ही है। ऐसा भी नहीं है कि यह एक बार होकर फिर होनेका नहीं; यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है, एवं शरीरका वध हो जाय तो भी यह मारा नहीं जाता। इत्यादि। श्लोक ३० तक जीव और शरीरके विषयमें उपदेश है जो पढ़नेयोग्य है।

नोट—७ अ० रा० में श्रीरामजीके वचन ये हैं—'**किं भीरु शोचसि व्यर्थं शोकस्याविषयं पतिम्। पतिस्तवायं देहो वा जीवो वा वद तत्त्वतः॥ पञ्चात्मको जडो देहस्त्वङ्मांसरुधिरास्थिमान्। कालकर्मगुणोत्पन्नः सोऽप्यास्तेऽद्यापि ते पुरः॥ मन्यसे जीवमात्मानं जीवस्तर्हि निरामयः। न जायते न म्रियते न तिष्ठति न गच्छति॥ न स्त्री पुमान् वा षंढो वा जीवः सर्वगतोऽव्ययः। एक एवाद्वितीयोऽयमाकाशवदलेपकः॥ नित्यो ज्ञानमयः शुद्धः स कथं शोकमर्हति॥**' (अध्यात्म० ३। १३—१६) अर्थात् हे भयशीले! व्यर्थ क्यों सोच करती है? तेरा पति शोक करने योग्य नहीं। बताओ कि तुम्हारा पति कौन है, यह देह या जीव? जड़ देह तो पञ्चतत्त्वात्मक है। त्वचा, मांस, रुधिर, अस्थिवाला, काल, कर्म और गुणसे उत्पन्न यह शरीर तेरे आगे है। यदि जीवात्माको पति मानती है तो जीव तो निर्विकार है, न पैदा होता है न मरता है, न खड़ा होता है, न चलता है, न स्त्री है, न पुरुष, न नपुंसक। वह तो सर्वगत है, अविनाशी है, एक ही है, अद्वितीय और आकाशकी तरह निर्लेप है, वह नित्य ज्ञानमय और शुद्ध है। तब उसके लिये कैसे शोक करना योग्य है?

वाल्मीकि रा० में प्रथम हनुमान्‌जीका समझाना लिखा है। फिर वाली-प्राणभङ्ग होनेपर श्रीरामचन्द्रजीने समझाया है। सर्ग २४ में श्रीरामजीका उपदेश इस प्रकार है।—

'मा वीरभार्ये विमतिं कुरुष्व लोको हि सर्वो विहितो विधात्रा॥ ४१॥
तं चैव सर्वं सुखदुःखयोगं लोकोऽब्रवीत्तेन कृतं विधात्रा॥
त्रयोऽपि लोका विहितं विधानं नातिक्रमन्ते वशगा हि तस्य॥ ४२॥
प्रीतिं परां प्राप्स्यसि तां तथैव पुत्रश्च ते प्राप्स्यति यौवराज्यम्॥
धात्रा विधानं विहितं तथैव न शूरपत्न्यः परिदेवयन्ति॥ ४३॥
आश्वासिता तेन महात्मना तु प्रभावयुक्तेन परंतपेन।······॥ ४४॥

अर्थात् 'हे वीरपत्नी! तुम मरनेकी इच्छा न करो। लोकको और सभीको विधाताने बनाया है। उसी विधाताने सबके साथ सुख-दुःखका संयोग कर दिया है। ऐसा वेदोंका उपदेश है। त्रैलोक्यवासी निश्चित विधानका अतिक्रमण नहीं कर सकते; क्योंकि सभी उसके अधीन हैं। तुम्हारा पुत्र युवराज होगा और तुम पहलेके ही समान अत्यन्त प्रसन्न होगी। विधाताका ऐसा ही विधान है। वीरोंकी स्त्रियाँ रोती नहीं। प्रभावशाली परन्तप महात्मा रामचन्द्रके समझानेपर वीरपत्नी ताराने विलाप करना छोड़ दिया।' ☞मानस-कथित उपदेश अध्यात्मके उपर्युक्त उपदेशसे मिलता जुलता है।

उपजा ग्यान चरन तब लागी। लीन्हेसि परम भगति बर मागी॥ ६॥
उमा दारु जोषित की नाईं। सबहि नचावत रामु गोसाईं॥ ७॥

अर्थ—जब ज्ञान उत्पन्न हुआ तब चरणोंसे लगी और वर माँगकर परमभक्ति ले ली॥ ६॥ (श्रीशिवजी कहते हैं—) उमा! राम गोसाईं सबको कठपुतलीकी तरह नचाते हैं अर्थात् सब प्राणी श्रीरामजीकी इच्छाके अनुकूल कार्य करते हैं॥ ७॥

नोट—१ *'उपजा ज्ञान'* से जनाया कि श्रीरामचन्द्रजीके समझानेसे इतनेसे ही उसका मोह दूर हो गया, उसने विलाप करना छोड़ दिया। प्रभावशाली महात्माओंके अल्प वाक्यसे ही लोगोंका अज्ञान दूर

हो जाता है। प्रभुकी कृपासे उसे ज्ञान हुआ, वह कृतकृत्य हुई। अतः चरणोंमें अब उसने प्रणाम किया। यथा—'**आश्वासिता तेन महात्मना तु प्रभावयुक्तेन परंतपेन। सा वीरपत्नी ध्वनता मुखेन सुवेषरूपा विरराम तारा॥**' (वाल्मी० २४। ४४) '**देहाभिमानजं शोकं त्यक्त्वा नत्वा रघूत्तमम्।**' (अ० रा० ३। ३६) अर्थात् 'प्रभावशाली परंतप महात्मा श्रीरामचन्द्रजीके समझानेपर वीरपत्नी ताराने विलाप करना छोड़ दिया। उसके हृदयमें शान्ति हुई जो मुखकी सुन्दरताके रूपसे प्रकाशित हुई। देहाभिमानजनित शोकको त्यागकर उसने श्रीरघुनाथजीको प्रणाम किया।'—यह सब '*उपजा ज्ञान*' से सूचित कर दिया गया।

टिप्पणी—१ ताराको उसी क्षण ज्ञान उत्पन्न हो गया, यह श्रीरामजीकी वाणीका प्रभाव है। ज्ञान होनेपर उसने सहगमनके विचारको त्याग भक्तिकी प्राप्तिका उपाय श्रेयस्कर जाना।—'***जहँ लगि साधन बेद बखानी। सबकर फल हरिभगति भवानी॥***' (७। १२६। ७) भक्तिके बिना ज्ञानकी शोभा नहीं, यथा—'***सोह न रामप्रेम बिनु ज्ञानू। करनधार बिनु जिमि जलजानू॥***' श्रीरामजीने ताराको ज्ञान अपनी ओरसे दिया और भक्ति उपाय करनेसे मिली। इससे सूचित हुआ कि ज्ञानसे भक्ति दुर्लभ है, यथा—'***प्रभु कह देन सकल सुख सही। भगति आपनी देन न कही॥***' (७।८४।४)

गौड़जी—तारा पहले अत्यन्त विकल हो गयी। शोकसे ऐसी संतप्त हो गयी कि वह पतिके शवके साथ चितामें जल जानेको तैयार थी। उसे भी वैसा ही कच्चा वैराग्य हो गया जैसा कि श्मशानपर वैराग्य हुआ करता है तथा जैसा सुग्रीवको वालीसे भिड़नेके पहले हो गया था। उस प्रसङ्गमें वालीको परम हित मानकर वह उसका वध नहीं चाहता था। परंतु 'नर मर्कट इव नचानेवाले' भगवान्‌ने उसे प्रवृत्त किया और यथोचित ज्ञान दिया। यहाँ भी तारा महापतिव्रता हो गयी, परंतु वस्तुतः उसे अनाथ विधवा रहनेमें भय था। इसीलिये जब ज्ञान हुआ तब '***तैं पुनि होब सनाथ***' वा '***तौ पुनि होब सनाथ***' का स्मरण करके चरणोंपर गिरी और पहले उसने '***बर***' (पति) माँगा। अर्थात् सुग्रीवको वरण करनेकी आज्ञा माँगी। इससे, परम भागवत रामसखा, पार्षद, पारिवारिकको वरण करके सहज ही उसने 'परम भक्ति ले ली।' अर्थात् उसकी अधिकारिणी हो गयी। अन्वय यों है—'***बर माँगि (कै), परम भक्ति लीन्हेसि।***' रामसखाको वरण करना ही उसे अधिकारिणी बनाता है, जैसे राजाको वरते ही भिखारिणी भी रानी हो जाती है। भगवत्प्रेरणानुकूल ही सब काम हुआ। इस प्रसङ्गमें भी ठीक वही बात कही है कि रामजी '***दारु जोषित की नाईं***' सबको नचाते हैं।

मा० म०—१ जब ताराको ज्ञान प्राप्त हुआ तब वह श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंपर गिरी और पहिले भक्ति तदनन्तर '***बर***' (पति)* माँगा। यदि कोई कहे कि यह अर्थ असंगत है तो इसीकी पुष्टताके लिये आगे कहते हैं कि '***उमा दारु जोषित की नाईं।***......' यदि तारा केवल भक्ति ही माँगती तो इस चौपाईके कहनेकी आवश्यकता न थी, परंतु उसने पति भी माँगा, अतएव शिवजी कहते हैं कि—हे उमा! देखो, इन्द्रियपति श्रीरामचन्द्र इन्द्रियोंको स्थिर वा चञ्चल जैसा चाहें करनेवाले हैं; क्योंकि पहिले ताराने भक्ति माँगी थी परंतु इन्द्रियोंके वश होकर पति भी माँगना पड़ा। २ (मयूख) श्रीरामचन्द्रजीने शापके डरसे ताराको ज्ञान देकर मोह छुड़ाया और पतिके बदले पति दिया अर्थात् सुग्रीवको ताराका पति बना दिया, वालीका कहना भी पूरा हो गया।—'***तौ पुनि होब सनाथ***' में देखिये†।

---

* जेहि अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली। फिरि सुकंठ सोइ कीन्ह कुचाली॥ सोइ करतूति बिभीषन केरी।' (१। २९) यह मानसका वचन इस भावका विरोधी है। अतः यह भाव भ्रम है। (प० प० प्र०)

† ऐसा ही अर्थ दोहामें दीनजीने किया है। सम्भवतः मयङ्कके आधारपर ही; पर यहाँ वे 'भगत बर' पाठ देते हैं। यह पाठ सम्पादकको किसी प्राचीन पोथीमें अबतक नहीं मिला। दीनजी जो भाव लिखते हैं वह मयङ्क और मयूखमें हो चुका है; पर वहाँ भी पाठ 'भगति' है। दीनजी लिखते हैं कि—'कुछ लोग प्रथम अर्द्धालीके दूसरे पदमें 'भगति बर' पाठ करके 'भक्तिका वरदान माँग लिया' ऐसा अर्थ करते हैं, पर हमें वह पाठ नहीं जँचता क्योंकि तारा पञ्चकन्या है। उसका किसी समय विधवा रहना हमारे शास्त्रानुकूल विहित नहीं है। अतएव उसे तुरत सुग्रीवको वरण करना ही पड़ा। 'भगत-बर' ही पाठ माननेसे

वि० त्रि०—१ *'उपजा ज्ञान······बर मागी'* इति। सरकारके उपदेशसे ज्ञान उपजा कि यह शरीर पाञ्चभौतिक पदार्थ है। यह कार्य है, अतः अनित्य है, अधम है (यथा—*'रहिहि न अंतहु अधम सरीरू')* और जीव नित्य है, अतः अशोच्य है, उसे सम्पूर्ण संसार नश्वर दिखायी देने लगा, कोई स्पृहा उसे नहीं रह गयी, अतः उसने परम भक्ति वर माँग लिया। यहाँ वरका अर्थ वरदान है, भर्ता नहीं है। ऐसी परिस्थितिमें जब कि मारे हुए पतिका शव पड़ा हो, कोई अधम-से-अधम स्त्री भी दूसरा पति करनेकी बात नहीं शोच सकती।

वि० त्रि०—२ *'उमा दारु जोषित······गोसाईं'* इति। जो तारा अभी इतनी विकल थी कि उसके बाल छूट गये थे, देहका सँभाल नहीं था, वही प्रभुका उपदेश पाते ही कृतकृत्य हो गयी, और उसने भक्तिका वरदान माँग लिया। इसमें ताराकी कोई प्रशंसा नहीं। सरकारने उसे विकल देखा, उन्होंने चाहा कि इसके हृदयमें शान्ति आ जाय, उसे उपदेश दिया और उसने शान्ति लाभ की। इसपर शिवजी कहते हैं कि सब लोग राम गोसाईंके हाथकी कठपुतली हैं, जब जैसा कर देते हैं तब वह तैसा हो जाता है, यथा—*'बोले बिहँसि महेस तब ज्ञानी मूढ़ न कोइ। जेहि जस रघुपति करहिं जब सो तस तेहि छन होइ॥'* (१।१२४)

टिप्पणी—२ यहाँ *'दारु जोषित'* का उदाहरण दिया और पूर्व कहा था कि *'नट मरकट इव सबहि नचावत।'* मर्कटके दृष्टान्तसे जगत्को चैतन्य कहा और दारुयोषित्के दृष्टान्तसे जगत्को जड़ कहा। एक ही (जगत्) को जड़ और चैतन्य दोनों कहना विरुद्ध है। पर तनिक ध्यान देनेसे इसका समाधान हो जाता है। *'उमा दारु जोषित की नाईं'* यह शिववाक्य है। शिवजीका ज्ञानी हैं और घाट है, वे ज्ञानीके मतानुसार जगत् जड़ है; अतएव शिवजीने जड़का दृष्टान्त दिया। और, *'नट मरकट इव सबहिं नचावत। राम खगेस बेद अस गावत॥'* यह भुशुण्डिवाक्य है। इनका उपासनाघाट है। ये उपासक हैं और उपासकोंके मतसे जगत् चैतन्य है; इसीसे भुशुण्डिजीने चैतन्यका दृष्टान्त दिया है*। सबको नचाते हैं, यह क्रीड़ा है; इसीसे दोनों जगह 'राम' नाम दिया—'**रमु क्रीडायाम्**।'—[नोट—सुग्रीव पुरुष हैं। उनके विषयमें पुँल्लिङ्ग *'नट मरकट'* का दृष्टान्त दिया था और तारा स्त्री है, इसके विषयमें स्त्रीलिङ्ग 'योषित्' का दृष्टान्त दिया। पां०—यहाँ अद्वैतका प्रतिपादन है कि एक ईश्वर ही सत्य है और सब मिथ्या।]

टिप्पणी—३ *'गोसाईं'* इति। कठपुतलीका नचानेवाला छिपकर नचाता है। रामजी 'गोसाईं' अर्थात् समस्त इन्द्रियोंके स्वामी हैं और अन्तर्यामीरूपसे सब इन्द्रियोंके प्रेरक हैं। प्रेरणा करके सबको कठपुतलीकी तरह नचाते हैं, यथा—*'सारद दारुनारि सम स्वामी। राम सूत्रधर अंतरजामी॥'* (१। १०५। ५)

पं० रा० व० श०—कठपुतलीमें कुछ सामर्थ्य नाचनेकी नहीं है; पर उसका नचानेवाला जो पर्देकी आड़में छिपा बैठा है उसे तार पकड़े हुए नचाता है वह तार भी दूसरेको दिखायी नहीं देता। नचानेवाला

पार्वतीजीकी शङ्का भी उचित जान पड़ती है, नहीं तो वह व्यर्थ-सी हो जायगी; क्योंकि भक्तिका वरदान माँग लेना कोई आश्चर्यजनक घटना नहीं है। 'भगत—वर' माँगना ही आश्चर्यमें डालनेवाली बात है—कि जो तारा अभी वालीके लिये रो रही थी वही एकदम भूलकर सुग्रीवको वरण करनेके लिये तैयार हो गयी। इस स्थानपर वालीका वह कथन स्मरण करना चाहिये जो उसने युद्धके लिये प्रस्थान करते समय तारासे कहा था।—'जौं कदाचि मोहिं मारहि तैं पुनि होब सनाथ'—(नोट—'तैं पाठ भी हमें कहीं नहीं मिला है)—इस दोहेके चौथे चरणका पाठ 'तौ पुनि होउँ सनाथ' करके इसका अर्थ 'तो फिर मैं सनाथ हो जाऊँगा' लोग करते हैं; पर वह संगत नहीं है क्योंकि 'पुनि' का यहाँपर कोई अर्थ ही नहीं लगता। यदि वाली एक बार कहीं 'अनाथ' से 'सनाथ' हो चुका होता तो उसका यह कहना सङ्गत होता; अतएव यह पाठ माननेसे पद अशुद्ध ठहरता है।'

* उपासनाकी दृष्टिसे प्राकृत चेष्टाएँ जीवोंकी अपनी हैं; इसमें सदसद्विवेकिनी बुद्धि और उसके कार्य श्रीरामजीकी कृपासे प्राप्त होते हैं। अतएव सब जीव मर्कटकी तरह हैं; यथा—'गुन तुम्हार समुझै निज दोषा।' (२।१३०) 'निज अवगुन राम रावरे लखि सुनि मति मन रूझै।' (वि० २३९) ज्ञानदृष्टिसे उभय प्रकारकी चेष्टाएँ परमात्माकी ही सत्तासे होती हैं। यथा—'बोले बिहँसि महेस तब ज्ञानी मूढ़ न कोइ। जेहि जस रघुपति करहिं जब सो तस तेहि छन होइ॥' (१।१२४) अतः सब जीव कठपुतलीकी तरह हैं। यथा—'सतरंज को सो साज काठको सबै समाज महराज बाजी रची प्रथम न इति। तुलसी प्रभुके हाथ हारिबो जीतिबो नाथ।' (वि० २४६) (श्रीकान्तशरणजी)

अपनी इच्छानुसार नचाता है। वैसे ही कर्मरूपी तार पकड़े हुए आप नचाते हैं। जीव परतन्त्र है। श्रीरामजी स्वतन्त्र हैं। चेतन होते हुए भी जीव प्रभुकी इच्छा बिना कुछ कर नहीं सकता, न अपनेसे यत्न करके कुछ पा सकता है, प्रभु ही कृपा करें तो ज्ञान, भक्ति सब कुछ मिल सकता है।

नोट—२ मिलान कीजिये—'**ईशस्य हि वशे लोको योषा दारुमयी यथा।**' (भा० १। ६। ७) कठपुतलीके समान यह सम्पूर्ण लोक ईश्वरके वशीभूत है।—ये नारदजीने व्यासजीसे कहा है। इसीका भाव गीताके—'**अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।**' (१०। ८) (जड़-चेतन समस्त प्रपञ्चका कारण मैं ही हूँ। ये सब मुझसे ही प्रवृत्त किये जाते हैं। अर्थात् उन-उनके कर्मानुसार मैं ही उनका संचालन करता हूँ।), '**सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टोमत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।**' (१५। १५) (मैं सबके हृदयमें प्रविष्ट हूँ। मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन होता है। अर्थात् सम्पूर्ण प्रवृत्ति और निवृत्तिके कारणरूप ज्ञानके उत्पत्तिस्थानमें मैं अपने संकल्पके द्वारा सबका शासन करता हुआ आत्मरूपसे प्रविष्ट हो रहा हूँ।) और '**ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥**' (१८। ६१) इन श्लोकोंमें है। ईश्वर सभी प्राणियोंके हृदय-देशमें स्थित है और यन्त्रारूढ सभी प्राणियोंको अपनी मायासे घुमा रहा है। श्रुतियाँ भी यही कहती हैं—'**अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्। सर्वात्मा।**' '**य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमयति।**' (बृह०)

श्रीरुक्मिणीजीका हरण होनेपर जरासंधादि परास्त होकर भाग आये; तब उन्होंने शिशुपालको समझाते हुए कि जीवोंके सुख या दुःख सदैव स्थिर नहीं रहते यही दृष्टान्त दिया है—'**न प्रियाप्रिययो राजन् निष्ठा देहिषु दृश्यते।**' '**यथा दारुमयी योषिन्नृत्यते कुहकेच्छया। एवमीश्वरतन्त्रोऽयमीहते सुखदुःखयोः॥**' (भा०। १०। ५४। ११-१२) अर्थात् सर्वथा अपने मनके अनुकूल ही हो या प्रतिकूल ही हो, इस सम्बन्धमें कुछ स्थिरता किसी भी प्राणीके जीवनमें नहीं देखी जाती। जैसे कठपुतली बाजीगरकी इच्छाके अनुसार नाचती है, वैसे ही यह जीव भी भगवदिच्छाके अधीन रहकर सुख और दुःखके सम्बन्धमें यथाशक्ति चेष्टा करता रहता है।

तब सुग्रीवहि आयसु दीन्हा। मृतक कर्म बिधिवत सब कीन्हा॥ ८॥

अर्थ—तब (जब ताराका शोक दूर हुआ और पतिके साथ सहगमनका प्रश्न नहीं रहा) श्रीरामचन्द्रजीने सुग्रीवको आज्ञा दी और उसने विधिपूर्वक वालीका सब मृतक-कर्म किया॥ ८॥

नोट—१ '*आयसु दीन्हा*' इति। आयसु देनेकी आवश्यकता यह कि बालीवधपर तारा आदिका विलाप देखकर सुग्रीव भी शोकनिमग्न हो गये थे और उन्हें बहुत पश्चात्ताप हुआ। यहाँतक कि उन्होंने आत्महत्या कर लेनेकी इच्छा प्रकट की, यथा—'**सोऽहं प्रवेक्ष्याम्यतिदीप्तमग्निं भ्राता च पुत्रेण च सख्यमिच्छन्।**'……'**कुलस्य हन्तारमजीवनार्हं रामानुजानीहि कृतागसं माम्॥**' (वाल्मी० २४। २२-२३) अर्थात् अब मैं भाई और पुत्रका साथ देनेके लिये जलती हुई आगमें प्रवेश करूँगा। कुलके नाश करनेवाले, जीनेके अयोग्य अपराधी मुझको मरनेकी आज्ञा दीजिये। वाल्मी० स० २४ के प्रथम २३ श्लोकमें इनका शोक दिखाया गया है।

टिप्पणी—१ जब श्रीरामजीने आज्ञा दी तब सुग्रीवने मृतक-कर्म किये। 'विधिवत्' से सूचित किया कि वालीकी क्रिया अङ्गदद्वारा करायी। पिताकी क्रिया पुत्र करे यही विधि है। '**ततः सुग्रीवमाहेदं रामो वानरपुङ्गवम्॥ भ्रातुर्ज्येष्ठस्य पुत्रेण यद्युक्तं साम्परायिकम्। कुरु सर्वं यथान्यायं संस्कारादि ममाज्ञया**''''**गत्वा चकार तत्सर्वं यथाशास्त्रं प्रयत्नतः।**' (अध्यात्म० सर्ग ३। ३९-४०, ४३) अर्थात् बड़े भाईके पुत्रके द्वारा शास्त्रोक्त संस्कारादिकर्मको मेरी आज्ञासे करो, ऐसा श्रीरामचन्द्रजीने वानरश्रेष्ठ सुग्रीवसे कहा। तब सुग्रीवने जाकर सब कर्म शास्त्रविधिसे किया।

नोट—२ 'विधिवत्' शब्दसे सब मृतकसंस्कारकी शास्त्रोक्त विधि जना दी। पुनः, जैसा राजाका संस्कार होना चाहिये उसे भी सूचित कर दिया। वाल्मी० स० २५ में इसका कुछ उल्लेख है। शवको रत्नजटित पालकीपर नदीके तीर ले गये। रास्तेमें वानर रत्न लुटाते जाते थे। सब परिजन, स्त्रियाँ और प्रजा रोती हुई साथ थीं।………अङ्गदने सुग्रीवके साथ पिताको चितापर रखा, विधिपूर्वक अग्नि लगायी, चिताकी प्रदक्षिणा

की। विधिपूर्वक संस्कार करके नदीके तटपर प्रेतको जल दिया गया। श्रीरामजीने सब प्रेत-कर्म करवाये। यह सब 'बिधिवत' शब्दसे सूचित कर दिया है। यथा—'**ततोऽग्निं विधिवद्दत्त्वा सोऽपसव्यं चकार ह। पितरं दीर्घमध्वानं प्रस्थितं व्याकुलेन्द्रियः। संस्कृत्य वालिनं तं तु विधिवत्प्लवगर्षभाः। आजग्मुरुदकं कर्तुं नदीं शुभजलां शिवाम्।**' (५०-५१)

मा० म०—रामचन्द्रजीने सुग्रीवको मृतकर्म विधिवत् करनेकी आज्ञा दी, यद्यपि यह अङ्गदको करना उचित था। कारण यह कि सुग्रीवको राज्य देना है अतएव इनको कृतपुत्र करके राज्य दिया और अङ्गदको यौवराज्य देकर राजप्रबन्धका सब भार दिया। इस अनुमतिमें राजनीति प्रच्छन्न है।

***'सुनि सेवक दुख दीनदयाला'* से यहाँतक *'बालि प्रान कर भंग'* यह प्रसंग है।**

'सुग्रीव-राज्याभिषेक'—प्रकरण

राम कहा अनुजहि समुझाई। राज देहु सुग्रीवहि जाई॥ ९ ॥
रघुपति चरन नाइ करि माथा। चले सकल प्रेरित रघुनाथा॥ १० ॥

अर्थ—तब श्रीरामचन्द्रजीने छोटे भाई लक्ष्मणको समझाकर कहा कि जाकर सुग्रीवको राज्य दो॥ ९॥ श्रीरघुनाथजीके चरणोंमें माथा नवाकर सब श्रीरघुनाथजीकी प्रेरणा (आज्ञा) से चले॥ १०॥

टिप्पणी—१ ***'समुझाई'*** से सूचित किया कि अङ्गदको युवराज करनेको कहा। जैसा आगे स्पष्ट है—***'राज दीन्ह सुग्रीव कहँ अङ्गद कहँ जुबराज।'*** युवराज बनानेमें यह समझाकर कहा कि—यदि अङ्गदको युवराज न करेंगे तो हमारी निन्दा होगी, लोग कहेंगे कि वाली अपना पुत्र इनको सौंप गया, पर इन्होंने अङ्गदके साथ कुछ उसका उपकार न किया। दूसरे, यदि उसे युवराज न बनायेंगे तो सुग्रीव उसका निरादर करेंगे, उसे त्रास देंगे और युवराज कर देनेसे इसको हमारा कृपापात्र समझकर वे इसे सुखपूर्वक रखेंगे।

वि० त्रि०—***'सौंपि गयउ निज सुत हमहिं, मरन समय कपिराज। कीजिय नृप सुग्रीव कहँ अंगद कहँ युवराज॥ राम काज सब कछु करिहि जब अंगद मतिमान। प्रजावर्गमें होयगो तब सन्तोष महान॥ बहुत दिननसे सहि रह्यौ, दुख दुखिया सुग्रीव। सुख बिलसै निश्चिन्त ह्वै, पाइहि शान्ति अतीव॥ किये नीति अनुसरण यह सबही को सुख होय। विजयानन्द सोइ कीजिअ अनुचित कहै न कोय॥'***

पाँ०, शिला—यहाँ रामजीका शीलनिधान गुण दरसाया। सुग्रीवसे वा उसके सम्मुख, न कहा कि अङ्गद युवराज होगा। सुग्रीवके बाद वही राजा होगा, सुग्रीवका पुत्र राजा न होगा। (यहाँ ***'समुझाई'*** पदसे अङ्गदके युवराज्यका ही लक्ष्य है। यहाँ गुप्त कहा; इसीसे कविने भी उस बातको गोल-मोल लिखा। आगे युवराज्य होनेपर स्पष्ट किया—मा० सं०) श्रीरामजीका बड़ा संकोची स्वभाव है, यथा—***'प्रभु गति देखि सभा सब सोची। कोउ न राम सम स्वामि सँकोची॥'***

नोट—१ वाल्मी० में श्रीरामजीने स्वयं सुग्रीवसे कहा है कि तुम लोकव्यवहार जानते हो। अङ्गद तुम्हारे बड़े भाईका पुत्र है, चरित्रवान्, बली और पराक्रमी है, इसकी आत्मा श्रेष्ठ है। इसका यौवराज्यके पदपर अभिषेक करो (सर्ग २६। १२-१३) अ० रा० में भी ऐसा ही है। पर मानसकल्पके श्रीराम परम संकोची हैं।

टिप्पणी—२ (क) ***'रघुपति'*** का भाव कि रघुवंशी धर्मात्मा और नीतिपर चलनेवाले हैं, ये उनके पति हैं। अतः इन्होंने वही किया जो धर्म है और नीति है—यह समझकर और प्रसन्न होकर सबने प्रणाम किया। (वा, रघुवंशके पति अर्थात् रक्षक है; सुग्रीवको राज्य देकर अपने वंशकी तरह हम सबके वंशकी भी रक्षा की—यह समझकर प्रणाम किया।) ***'नाइ करि माथा'***— चरणोंमें प्रणाम करके चलनेका भाव कि सबके मनकी बात हुई, सबकी इच्छा थी कि अङ्गद युवराज हों। वह इच्छा पूर्ण होते देख सब वानर प्रसन्न हुए; अतः प्रणाम करके चले। [इस भावमें दोष यह आता है कि अङ्गदको युवराज बनानेका भाव तो गुप्त था। अभी वह प्रकट नहीं हुआ तब वानर कैसे समझे कि हमारे मनकी हुई? मेरी समझमें बड़ोंको आने और जानेपर दोनों ही अवसरोंपर प्रणाम करना शिष्टाचार है, उसी भावसे प्रणाम करके चले।

हाँ, आगे *'चले सकल प्रेरित रघुनाथा'* से यदि ऐसा मान लें कि श्रीरघुनाथजीने उन सबोंको संकेत कर दिया कि तुम सब लोग जाओ, तुम्हारे मनकी होगी, इत्यादि, तो पं० रामकुमारजीका भाव भी ठीक हो सकता है। *'प्रेरित'* से ऐसा भाव दे सकते हैं। रघु (जीवों) के नाथ हैं ही।] (ग) *'चले सकल प्रेरित'* इति। वालीके मारे जानेसे सब वानर व्याकुल हैं। वे डरते हैं कि सुग्रीवके पक्षके वानर हमको मार डालेंगे, इत्यादि। यथा—**'आविशन्ति च दुर्गाणि क्षिप्रमद्यैव वानराः।''' तेभ्यो नः सुमहद्भयम्॥'** (वाल्मी० १९। १५-१६)—यह उन्होंने तारासे कहा था। अतः श्रीरामजीने जब उनको आज्ञा दी तब वे गये।

दो०—लछिमन तुरत बोलाए पुरजन बिप्र समाज।
राज दीन्ह सुग्रीव कहँ अंगद कहँ जुबराज॥ ११॥

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजीने पुरजन और विप्रसमाजको तुरत बुलाया। सुग्रीवको राज्य दिया और अङ्गदको युवराजपद दिया॥ ११॥

नोट—१ *'बिप्र समाज'* अर्थात् ऋषियोंको बुलाया। इनको इसलिये बुलाया कि अभिषेकके समय वेदीपर पवित्र हविका हवन मन्त्रवेत्ता ब्राह्मणोंद्वारा होता है, राजाका स्नान शास्त्रविधिके अनुसार महर्षियोंके आज्ञानुकूल कराया जाता है। *'पुरजन'* इसलिये बुलाये जाते हैं कि उनको आश्वासन दिया जाता है, उनके सामने घोषणा की जाती है कि आजसे ये राजा हैं, अभिषेक होनेपर सब राजाको प्रणाम करते, भेंट देते हैं। दूसरे, अङ्गदको यौवराज्यपदपर सब देखेंगे तो सबको संतोष होगा और ऐसा हुआ भी। यथा—**'अङ्गदे चाभिषिक्ते तु सानुक्रोशाः प्लवंगमाः। साधु साध्विति सुग्रीवं महात्मानो ह्यपूजयन्॥ रामं चैव महात्मानं लक्ष्मणं च पुनः पुनः। प्रीताश्च तुष्टुवुः सर्वे तादृशे तत्र वर्तिनि॥'** (वाल्मी० २६। ३९-४०)—*'राम कहा अनुजहि समुझाई'* का भाव यहाँ स्पष्ट हुआ। यदि श्रीरामजीने सुग्रीवसे कहा होता कि अङ्गदको युवराज बनाना तो प्रजावर्ग उनकी बड़ाई न करता। सब समझते कि श्रीरामजीने युवराज बनाया, सुग्रीव उसे कभी यौवराज्य न देते। बात गुप्त रहनेसे प्रजाने सुग्रीवकी प्रशंसा की। उनको यश मिले, इसलिये यह बात गुप्त रखी गयी।

नोट—२ श्रीलक्ष्मणजीको श्रीरामजीके पास सेवाके लिये जल्दी आना है, इसीसे वहाँका काम उन्होंने जल्दी किया। पुनः, तिलककी साइत भी जल्दीकी थी। अतएव *'तुरत बुलाए'* (पु० रा० कु०) पंजाबीजीका मत है कि तुरत बुलानेका भाव यह है कि जिसमें रात्रि न होने पावे, दिन-ही-दिन सब कार्य करके लौट जायँ। किसीका मत है कि सबको इससे बुलाया कि सब जान लें कि सुग्रीवके बाद अङ्गद ही राज्यका उत्तराधिकारी है। यह भी हो सकता है, पर विशेषतः यह रीति ही है कि राज्याभिषेकके समय सब बुलाये जाते हैं जो इस योग्य होते हैं। पुनः 'तुरत बुलाया' क्योंकि प्रभुकी आज्ञापालनमें विलम्ब करना सेवकको उचित नहीं। इससे आज्ञामें तत्परता दिखायी।

उमा राम सम हित जग माहीं। गुर पितु मातु बंधु प्रभु नाहीं॥ १॥
सुर नर मुनि सब की यह रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती॥ २॥

अर्थ—(शिवजी कहते हैं—)हे उमा! संसारमें श्रीरामजीके समान हित करनेवाला गुरु, पिता, माता, भाई और स्वामी कोई नहीं है॥ १॥ सुर, नर और मुनि सबकी यह रीति है कि स्वार्थके लिये (ही) ये सब प्रीति करते हैं॥ २॥

☞प्रथम चौपाईमें दो ही अक्षरके पद हैं, यह काव्य वैदर्भी रीतिका कहा जाता है कि जिसमें बड़े पद और बहुत समास न पड़ें।

टिप्पणी—१ श्रीरामजीको सबसे अधिक हितकारी कहा। फिर उसका कारण बताते हैं कि सुर, नर, मुनि सभी स्वार्थवश प्रीति करते हैं। *'जे सुर सिद्ध मुनीस जोगबिद बेद पुरान बखाने। पूजा लेत देत पलटे सुख हानि लाभ अनुमाने॥'* (वि० २३६), यह देवताओंकी रीति है। मुनियोंकी यह रीति है कि सेवा

कराके पढ़ाते हैं। सुर, मुनिकी यह बात है तब नर बेचारे किस गिनतीमें हैं? पर श्रीरामचन्द्रजी बिना कारण कृपा करते हैं—*'कारन बिनु रघुनाथ कृपाला।'* यह बात आगे कहते हैं।—[सुग्रीवका हित करनेमें वस्तुतः कोई स्वार्थ श्रीरामजीका न था जैसा पूर्व लिखा जा चुका है, पर श्रीशबरी आदिने उसे महात्मा और दीन कहा था, इसीसे उसका हित किया, क्योंकि आप तो दीनदयाल हैं। यही बात विनय० १९३ के इन पदोंसे स्पष्ट है—

अजहुँ आपने रामके करतब समुझत हित होइ । कहँ तू कहँ कोसलधनी तोकों कहा कहत सब कोइ॥
रीझि निवाज्यो कबहिं तूँ कब खीझि दई तोहि गारि। दर्पन बदन निहारि कै सुविचार मान हिय हारि॥
बिगरी जनम अनेक की सुधरत पल लगै न आधु । पाहि कृपानिधि प्रेम सों कहे को न राम कियो साधु॥
बालमीकि केवट कथा कपि-भील-भालु सनमान। सुनि सनमुख जो न राम सों तेहि को उपदेसै ज्ञान॥
का सेवा सुग्रीव की का प्रीति रीति निरबाहु । जासु बंधु बध्यो ब्याध ज्यों सो सुनत सोहात न काहु॥
भजन बिभीषन को कहा फल कहा दियो रघुराज । राम गरीबनिवाज के बड़ी बाँह बोल की लाज॥
जपहि नाम रघुनाथको चरचा दूसरी न चालु । सुमुख सुखद साहिब सुधी समरथ कृपाल नतपालु॥
सजल नयन गदगद गिरा गहबर मन पुलक सरीर। गावत गुनगन राम के केहि की न मिटी भव भीर॥
प्रभु कृतज्ञ सर्वज्ञ हैं परिहरु पाछिली गलानि। तुलसी तोसों रामसों कछु नई न जान पहिचानि॥

ऐसा ही *'ऐसे राम दीन हितकारी'* इस १६६ पदमें भी कहा है—*'कपि सुग्रीव बन्धुभय व्याकुल आयो सरन पुकारी। सहि न सके जन के दारुन दुख हत्यो बालि सहि गारी॥'* जहाँ किसीका अपना ही अपयश हो जायगा वहाँ भला वह कब दूसरेका हित करेगा; पर प्रभुने उसके पीछे अपयश सहा पर उसका हित किया।]

करु०—यहाँ सम्भव है कि कोई-कोई संदेह करें कि 'गुरु भी नहीं है' यह कैसे? गुरुको तो शास्त्र ईश्वर कहते हैं। यथा—'**गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुरेव महेश्वरः। गुरुरेव परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥**' '**अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्। तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥**' (१-२) **गुरु** परमेश्वरके समान है, यह सत्य है। पर गुरु अपने शिष्यका ईश्वर है और ईश्वर सबका ईश्वर है; पुनः, ईश्वर चराचरमात्रका हितकारी है और गुरु अपने शिष्यका ही। पुनः, गुरु जीव ही हैं, अपने शिष्यके माननेके लिये ईश्वर हैं; अतएव गुरु श्रीरामजीके समान हितकारी कैसे हो सकते हैं? यथा—'**गुरुर्न स स्यात्स्वजनो न स स्यात्पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात्। दैवं न तत्स्यान्न पतिश्च स स्यान्न मोचयेद्यः समुपेतमृत्युम्॥**' (भा० ५। ५। १८)

देखिये, श्रीरामचन्द्रजीने करोड़ों निजविरोधी कोल-भिल्ल-कीट-पतङ्गोंको परम पद दिया है और गुरु वसिष्ठ ऐसे समर्थ होकर भी एक राजा त्रिशंकुको परम पद न दे सके। पुनः गुरु श्रीरामचन्द्रकी प्राप्तिहेतु शिष्यको उपदेश करते हैं; आगे शिष्यका कर्तव्य है। इन कारणोंसे गुरु श्रीरामचन्द्रके समान हितकारी नहीं हैं।

करु०—इस सन्देहके निवारणार्थ दूसरी प्रकार अर्थ कर सकते हैं कि (१) 'श्रीरामचन्द्रजीके समान जगत्में हितकारी एक गुरु है और पिता-माता-बन्धु कोई नहीं है।' (२) गुरु=श्रेष्ठ। अर्थात् जितने श्रेष्ठ जन हैं, पिता-माता-भाई-बन्धु वे कोई भी रामसमान हितकारी नहीं हैं। (३) सम=एकरस। अर्थात् एकरस हितकारी (आदि-अन्त निबाहनेवाले) एक श्रीरामचन्द्र हैं। गुरु, पिता-माता और भाई कोई किसीके सदा रह नहीं जाते (अतः वे एकरस हितकारी नहीं हो सकते)।

बाबा हरीदासजी यह अर्थ करते हैं कि 'रामजी समहित हैं और गुरु आदि सम-विषम हित हैं। अर्थात् जब समता भाव बनता है तब समताका फल देते हैं और जब विषम भाव बना तब विषमताका फल देते हैं; यथा—*'जो नर गुरु सन इरिषा करहीं। रौरव नरक कलपसत परहीं॥'* जैसे गुरु वसिष्ठने त्रिशंकुको विषम फल दिया और श्रीरामजी विषमतामें भी समताका फल देते हैं जैसे विरोधी निशाचरोंको

भी गति दी, शिशुपालको भी गति दी जो नित्य गाली दिया करता था, इत्यादि।

☞पर हमारी समझमें खींचतानसे यहाँ तात्पर्य नहीं। यहाँ वस्तुतः स्वतन्त्र ईश्वरपनका निरूपण है, गुरुकी श्रेष्ठता भी ईश्वरतत्त्व बतलानेके कारण ही है, नहीं तो न होती। गोस्वामीजीने विनयमें भी कहा है—*'नाम सों न मातु पितु मीत हित बंधु गुरु साहिब सुधी सुसील सुधाकर है।'* पुनः, यथा—*'राम हैं मातु पिता सुत बंधु औ संगी सखा गुर स्वामि सनेही।'* (कवित्तरामायण ७। ३६) पुनः, यथा—*'जनक जननि गुरु बंधु सुहृद पति सब प्रकार हितकारी।'* (वि० ११३) भाव यह कि गुरु केवल परमार्थ दर्शानेवाले हैं, माताका काम वे नहीं कर सकते, न पिताका, न सखा इत्यादिका। इसी प्रकार प्रत्येक नातेदार अपने नातेके अनुकूल ही हित कर सकता है; पर श्रीरामजी अकेले ही सब नातेदारोंको सुख देते हैं, जैसा कहा है—*'करि बीत्यो अब करतु है करिबे हित मीत अपार। कबहुँ न कोउ रघुबीर सों नेह निबाहनिहार॥ जासों सब नातो फुरै तासों न करी पहिचानि। तातें कछू समझेउ नहीं कहा लाभ कहा हानि॥'* (वि० १९०) ७७वें पदमें गोस्वामीजीने श्रीरामजीको 'सुस्वामि, सुगुरु, सुपिता, सुमातु, सुबन्धु' कहा है। उसका भी यही भाव है कि और सब स्वामी, गुरु, पिता, माता, बन्धु हैं पर श्रीरामजी सबसे श्रेष्ठ और सब कुछ हैं।

प० प० प्र०—१ *'हित'* का अर्थ यहाँ 'मित्र, सखा' लेना उचित है। **'मित्रं सुहृदि न द्वयोः'** (अमरव्याख्यासुधा), *'हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा।'*

प० प० प्र०—२ यहाँ 'गुरु' से पुरोहित, कुलगुरु, विद्यागुरु इत्यादिका ग्रहण करना चाहिये; नहीं तो *'तुम्ह तें अधिक गुरहि जिय जानी', 'मोतें अधिक संत करि लेखा', 'संत चरन पंकज अति प्रीती'* (गुरु संत होते ही हैं), इत्यादि वाक्योंसे विरोध होगा। उपर्युक्त भागवत पञ्चम स्कन्धका प्रमाण असम्बद्ध है; कारण कि वह वाक्य **'न मोचयेत् यः'** के विषयमें है। जो गुरु मृत्युसे न उबारे वह गुरु नहीं है। अतः वह सापेक्ष्य वचन है सामान्य सिद्धान्त नहीं।

मा० म०—इस कथनमें भाव यह है कि सुग्रीवके गुरु इत्यादि सहायक-समूह बहुत रहे, परंतु किसीसे कणमात्र भी स्वार्थ नहीं साधन हो सका और न किसीका किञ्चित् भी मुँह मिला। अन्ततः श्रीरामचन्द्रजीने ही सुग्रीवका हित किया।

यहाँ 'चतुर्थ प्रतीप' अलङ्कार है।

बालि त्रास ब्याकुल दिनराती। तन बहु ब्रन चिंता जर छाती॥ ३॥
सोइ सुग्रीव कीन्ह कपिराऊ। अति कृपाल रघुबीर सुभाऊ॥ ४॥
जानतहूँ अस प्रभु परिहरहीं। काहे न बिपति जाल नर परहीं॥ ५॥

अर्थ—जो सुग्रीव रात-दिन वालीके भयसे व्याकुल रहता था, जिसके तनपर बहुत-से घाव हो गये थे और जिसकी छाती चिन्ताके मारे जला करती थी॥ ३॥ उसी सुग्रीवको श्रीरामजीने वानरोंका राजा बना दिया। श्रीरघुबीरजीका अत्यन्त कृपालु स्वभाव है॥ ४॥ जो मनुष्य जानते हुए भी ऐसे प्रभुको छोड़ देते हैं वे क्यों न विपत्तिके जालमें फँसे?॥ ५॥

नोट—१ *'बालि त्रास ब्याकुल………'* यथा—*'तदपि सभीत रहउँ मन माहीं', 'सकल भुवन मैं फिरेउँ बिहाला।'* *'तन बहु ब्रन'* क्योंकि वालीने बहुत मार मारी थी, यथा—*'रिपु सम मोहि मारेसि अति भारी।'* *'तन बहु ब्रन'* से बाहरसे दुःखी और 'चिन्ता-जर' से भीतरसे भी दुःखी जनाया। *'अति कृपाल'* का भाव कि सुग्रीवको किसी स्वार्थसे नहीं राजा बनाया बल्कि अपनी कृपालुतासे, उसको दीन-दुःखी जानकर उसको राज्य दिलाया। नहीं तो यदि स्वार्थ चाहते तो वालीसे मित्रता करते। पर ऐसा न करके वालीका त्याग और सुग्रीवसे मित्रता की।

वालीने स्वयं कहा है कि यदि आप मुझसे कहते तो मैं एक ही दिनमें दुष्टात्मा, रावणका गला बाँधकर उसे आपके सामने उपस्थित कर देता और जहाँ भी जानकीजी होतीं मैं उन्हें ला देता,

यथा—'**मैथिलीमहमेकाह्ना तव चानीतवान्भवेः॥ राक्षसं च दुरात्मानं तव भार्यापहारिणम्। कण्ठे बद्ध्वा प्रदद्यां तेऽनिहतं रावणं रणे॥ न्यस्तां सागरतोये वा पाताले वापि मैथिलीम्। आनयेयं तवादेशाच्छ्वेतामश्वतरीमिव॥**' पर वस्तुतः सुग्रीवकी इस कार्यसिद्धिमें स्वार्थ स्वप्नमें भी हेतु न था। सोचिये, तो भला उनकी सहायता कौन कर सकता है? यह बात तो रावण, मेघनाद और कुम्भकर्णके युद्धमें स्पष्ट देख पड़ती है। सभी त्राहि-त्राहि करने लगते थे। जाम्बवन्तने भी कहा है—'*तव निज भुज बल राजिवनयना। कौतुक लागि संग कपि सैना*''''''॥' (कि० ३०। १२)

वाल्मी० २९ में स्वयं हनुमान्‌जीका वचन सुग्रीवसे है कि—'**कामं खलु शरैः शक्तः सुरासुरमहोरगान्। वशे दाशरथिः कर्तुं त्वत्प्रतिज्ञामवेक्षते॥**' (२२) अर्थात् श्रीरामचन्द्रजी बाणोंद्वारा देवता, दैत्य और महानागोंको अपने वशमें कर सकते हैं तो भी वे तुम्हारी प्रतिज्ञाको देख रहे हैं। इन सब बातोंके उपस्थित करते हुए भी स्वार्थारोपण करना अपनी बुद्धिको ही कलङ्कित करना है। इससे सिद्ध हुआ कि उन्होंने दीन सुग्रीवपर कृपा की, यथा—'**नतः ग्रीव सुग्रीवदुःखैकबंधुः**''''''' (विनय०) पुनः यथा—'*बालि बली बलसालि दलि सखा कीन्ह कपिराज। तुलसी राम कृपाल को बिरद गरीबनिवाज॥*' (दो० १५८)

'*रघुबीर*' पदका भी यही भाव है कि वे तो पञ्चवीरतायुक्त हैं, उनका उपकार कोई क्या करेगा। '*प्रभु*' का भाव कि वे इस जालको काटनेमें समर्थ हैं। (मा० त० भा०)

वि० त्रि०—सुग्रीव वालीके त्राससे चौदहों भुवनोंमें भागते फिरे, कहीं त्राण न मिला। तब ऋष्यमूक पर्वतपर आकर रहने लगे। शापके कारण वाली वहाँ नहीं आ सकता था, पर वह बराबर वीरोंको सुग्रीवजीके वधके लिये भेजता था, जो सब-के-सब सुग्रीवद्वारा मारे गये, पर उसने वीरोंका भेजना बंद नहीं किया। बराबर एकके बाद दूसरेको भेजता ही रहा। एक लड़ाईकी चोट (व्रण) अच्छा होनेके पहले ही, दूसरी लड़ाई लड़नी पड़ती थी, और कब किससे लड़ना पड़ेगा, इसका ठीक नहीं। अतः सुग्रीवजी सदा ही घायल रहते थे, और चिन्तासे कलेजा जला करता था कि इसी भाँति लड़ते-लड़ते मुझे मर जाना है। ऐसा दुःखमय समस्त जीवन सुग्रीवजी बिताते थे, उनका भय दूर कर देना ही उनके लिये बड़ा उपकार था और इतनेहीकी सरकारने प्रतिज्ञा की थी (यथा—'*सुनु सुग्रीव मैं मारिहौं बालिहि एकहि बान*'); परंतु उनकी दीनता देखकर उन्हें बन्दरोंका राजा बना दिया। सरकार स्वभावसे ही अति कृपाल हैं।

नोट—२ सुग्रीवपर अत्यन्त कृपा दिखाकर कवि यहाँ सबको उपदेश देते हैं कि प्रभुका ऐसा स्वभाव जानकर उनको भूलना नहीं चाहिये, वरन् उनको अपना लेना चाहिये, वे सब विपत्तिजालके काटनेवाले हैं। मयूखकार कहते हैं कि इस अर्द्धालीमें भाव यह है कि सुग्रीवने प्रभुको जानकर भी भुला दिया, इसी कारण वह विषय-विपत्तिमें पड़ गया, स्मरणभजन सब छूट गया। '*जाल*' शब्दसे दोनों अर्थ यहाँ लेंगे। एक तो जाल (फाँसनेवाला), दूसरे समूह।

पुनि सुग्रीवहि लीन्ह बोलाई। बहु प्रकार नृपनीति सिखाई॥ ६॥
कह प्रभु सुनु सुग्रीव हरीसा। पुर न जाउँ दस चारि बरीसा॥ ७॥

अर्थ—फिर प्रभुने सुग्रीवको बुला लिया और बहुत प्रकारसे राजनीति सिखायी॥ ६॥ फिर बोले—हे कपीस सुग्रीव! सुनो, मैं चौदह वर्षतक पुरमें नहीं जाऊँगा॥ ७॥

नोट—१ '*पुनि सुग्रीवहि लीन्ह बोलाई।*''''''''' इति। (क) इससे जनाया कि सुग्रीव राजा होते ही विषयवश हो गये; श्रीरामचन्द्रजीके निकट नहीं गये। उचित तो यही था कि राज्य पानेके बाद विभीषणजीकी भाँति वे भी स्वयं हाजिर होते और कहते कि '*अब जन गृह पुनीत प्रभु कीजै।*''''''''*सब बिधि नाथ मोहि अपनाइय*' इत्यादि, पर सुग्रीवजी घर ही रह गये; आये नहीं। प्रभुने विचारा कि अनेक वर्षोंके बाद उन्होंने अपनी स्त्री और कोष पाया है, इससे भूल गये हैं। अतः मित्रधर्मका स्मरण करके प्रभुने उन्हें स्वयं बुला भेजा। समझ लिया कि ये राजनीतिमें कच्चे हैं। अतः राजनीति सिखानेके लिये बुलाया। (वि० त्रि०) अथवा,

बुलाया कि सुग्रीवको राज्यका योग तो हुआ पर क्षेमका उपाय अभी नहीं हुआ। अतः उसका उपाय कर दें। **'योगक्षेमं वहाम्यहम्'** उनका विरद ही है।

नोट—२ निषादराज और विभीषणजीके प्रसङ्गसे मिलान करनेसे इस प्रसङ्गके भाव स्पष्ट हो जाते हैं—

श्रीनिषादराजजी	श्रीविभीषणजी	श्रीसुग्रीवजी
१ *देव धरनि धन धाम तुम्हारा।* *मैं जन नीच सहित परिवारा॥* *कृपा करिअ पुर धारिअ पाऊ।* *थापिअ जन सब लोगु सिहाऊ॥*	*सहित बिभीषन प्रभु पहिं आये।* *अब जन गृह पुनीत प्रभु कीजै॥* *—देखि कोष मंदिर संपदा।* *देहु कृपाल कपिन्ह कहँ मुदा॥* *सब बिधि नाथ मोहि अपनाइय।* *पुनि मोहि सहित अवधपुर जाइय॥*	*'पुनि सुग्रीवहि लीन्ह बोलाई।'* सुग्रीव बुलानेपर आये तब भी ऐसे कोई वाक्य (मानस मतसे) नहीं कहे गये।
२ *कहेहु सत्य सबु सखा सुजाना।*	*तोर कोस गृह मोर सब सत्य बचन सुनु भ्रात।*	कुछ कहा नहीं, अतः उत्तर भी नहीं है।
३ *मोहि दीन्ह पितु आयसु आना।* *बरष चारिदस बास बन मुनिब्रत०।* *'ग्रामबास नहिं उचित०।'*	*भरत दसा०* -(लं० ११५)। १४ वर्ष आज बीतेंगे। *'पिता बचन मैं नगर न आवउँ'*	*कह प्रभु सुनु सुग्रीव हरीसा।* *पुर न जाउँ दसचारि बरीसा।*
४ *सुनि गुहहि भयेउ दुख भारु॥-*		सुनकर दुःख न हुआ।

☞सुग्रीवको राज्य मिला, वे स्वयं न आये, बुलाये गये, आनेपर भी नीति उपदेशके पश्चात् सम्भवतः उन्होंने कहा कि नगर चलिये जैसा कि अध्यात्मसे सिद्ध होता है। उत्तरमें प्रभु कहते हैं कि १४ वर्षतक नगरमें नहीं जा सकता। विभीषणजी स्वयं आये, यथा—*'करि बिनती जब संभु सिधाये। तब प्रभु निकट बिभीषन आये॥ नाइ चरन सिर कह मृदु बानी। बिनय सुनहु प्रभु सारँग पानी॥'''''''* और, आते ही बिनती की कि अब अपने जनके घरको पवित्र कीजिये, इत्यादि। इससे शब्दोंद्वारा कवि सुग्रीवसे विभीषणका प्रेम अधिक दिखा रहे हैं। निषादराजका प्रेम विभीषणजीसे भी बढ़ा-चढ़ा है यद्यपि वह केवटोंका ही राजा है। वह अपने राज्य, घर आदिको अपना नहीं कहता वरन् प्रभुका ही मानता है और ऐसा सच्चे हृदयसे समझकर वचनसे वही बात कह रहा है कि यह सब आपका है आप कृपा करके नगरमें चलें और मैं तो आपका नीच टहलुआ हूँ। प्रभुके वचन सुनकर उसे भारी दुःख हुआ। ये सब बातें निषादराजको उन दोनोंसे अधिक प्रेमी प्रकट कर रही है। और भी देखिये, प्रभुने उत्तरमें सम्बोधनमें भी भेद किया है सुग्रीवको 'हरीसा', विभीषणको 'भ्राता' और निषादराजको 'सखा सुजान' कहा है। उत्तरकाण्डमें बिदाईके समय भी निषादराजमें श्रीरामजीका विशेष प्रियत्व पुनः देखिये। वहाँ प्रभुने किसीसे यह न कहा कि यहाँ बराबर आते रहना, निषादराजजीसे कहा कि *'तुम्ह मम सखा भरत सम भ्राता। सदा रहेहु पुर आवत जाता॥'*

नोट—३ *'बहु प्रकार नृपनीति सिखाई'* इति। राजनीति सिखायी, क्योंकि राजाका कल्याण नीतिसे होता है। यथा—*'राजु की रहइ नीति बिनु जाने।'* (७। ११२। ६) नीतिके बिना राज्य नहीं रह सकता। यही भाव अङ्गदके वचनोंमें है जो उन्होंने श्रीरामजीसे कहे हैं—*'साम दाम अरु दंड बिभेदा। नृप उर बसहिं नाथ कह बेदा। नीति धर्मके चरन सुहाये। अस जिअ जानि नाथ पहिं आये॥ धर्महीन प्रभु पद बिमुख कालबिबस दससीस। तेहि परिहरि गुन आये सुनहु कोसलाधीस॥'* (लं० ३७)

राजनीति बहुत प्रकारकी है, यथा—*'माली भानु किसान सम नीति निपुन नरपाल। प्रजा-भाग बस होहिंगे कबहुँ कबहुँ कलिकाल॥'* (दोहावली ५०६)

☞चाणक्य-नीति-दर्पण, भोजप्रबन्धसार, शुक्रनीति, कामन्दकीयनीतिसार और भर्तृहरिनीतिशतक इत्यादिमें नीतिका सविस्तर वर्णन है। अरण्यकाण्डमें मारीचका उपदेश रावणको नीतिपूर्ण है। अयोध्याकाण्डमें भरतजीको थोड़ेहीमें राजनीतिका सार समझा दिया है। यथा—*'मुखिआ मुख सो चाहिए खान पान कहुँ*

एक। पालइ पोषइ सकल अँग तुलसी सहित बिबेक॥' (२।३१५) *'राजधरम सरबसु एतनोई। जिमि मन माहँ मनोरथ गोई॥'*

पुनः, बहु प्रकार यह कि शिक्षा दी कि अङ्गद और वालीके सचिवों-सखाओंसे प्रीति करके उन्हें अपना लेना, पूर्वपक्ष विचारकर वैर किसीसे न करना और सुभटोंसे कहना कि वालीके साथ तुम्हारी दृढ़ता देखकर तुमपर हमें भी अत्यन्त विश्वास है कि अब हम राजा हैं तो हमारा भी साथ प्राणोंके रहते न छोड़ोगे। (पं०) राज्यपर एकाधिपत्य न रखना, अङ्गदको साझीदार समझना। (वि० त्रि०)

नोट—४ *'कह प्रभु सुनु सुग्रीव हरीसा'* इति। (क) *'सुनु'* से सूचित करते हैं कि राजनीति सिखानेके बाद फिर उन्हें सावधान करते हैं। (ख) *'हरीसा'* का भाव कि तुम राजा हो, तुम्हारे यहाँ मेरा जाना उचित है; पर पुरमें जानेसे मेरा व्रत भंग हो जायेगा। (पं० रा० कु०) सुग्रीव अब राजा हुए अतएव प्रभुने भी उनको सम्मान-हेतु हरीश सम्बोधन किया। हरि=कपि। ईश=स्वामी। हरीश=कपिराज। इस प्रयोगसे प्रभुकी राजनीतिमें निपुणता दर्शित होती है। (प्र० सं०)

विभीषणजी जब राज्याभिषेकके पश्चात् आये तब प्रभुने उनको 'निशाचरपति' वा 'लंकेश' न कहकर *'भ्राता'* कहा और सुग्रीवको *'हरीसा'* (कपीश) कहा। इसमें भाव यह है कि सुग्रीव बड़ाई चाहते हैं, उनमें राजसत्ताका मद अङ्कुरित हो गया है, यह प्रभुने जान लिया। प्रभु तो भक्तकल्पतरु हैं ही, अतः उन्होंने 'हरीश' सम्बोधित करके उनको बड़ाई दी। यदि निषादराजको 'निषादराज' कहते तो वह *'त्राहि-त्राहि'* करने लगता। *'राम सदा सेवक रुचि राखी'* यही इसका सार है। (प० प० प्र०)

टिप्पणी—१ *'पुर न जाउँ दस चारि बरीसा',* इस कथनसे ज्ञात होता है कि सुग्रीवने प्रभुसे नगरमें चलनेकी प्रार्थना की। यथा—**'राज्यं प्रशाधि राजेन्द्र वानराणां समृद्धिमत्॥ दासोऽहं ते पादपद्मं सेवे लक्ष्मणवच्चिरम्। इत्युक्तो राघवः प्राह सुग्रीवं सस्मितं वचः॥'** (अध्यात्म ३। ४४-४५) अर्थात् 'हे राजेन्द्र! आप इस सम्पूर्ण ऋद्धि-सम्पन्न वानरराज्यका शासन करें। मैं आपका दास हूँ, लक्ष्मणकी तरह चिरकालतक आपके चरण-कमलकी सेवा करूँगा। सुग्रीवके ऐसा कहनेपर रघुनाथजी मुस्कुराकर बोले। [पुनः भाव कि मैं किष्किन्धा नगरीमें ही चलकर ठहरता, पर चौदह वर्षतक पुरमें प्रवेशकी आज्ञा नहीं है। वर्षा आ गयी है, उद्यमका समय नहीं है, मैं यहीं निकट पर्वतपर रहूँगा, जब चाहो तब मिल सकते हो। (वि० त्रि०)]

नोट—५ *'पुर न जाउँ दस चारि बरीसा।' 'पुर'* और *'दस चारि बरीसा'* के भाव अ० ५३ और ८८ में दिये गये हैं पाठकोंके सुविधार्थ यहाँ केवल पं० रामकुमारजीके भाव दिये जाते हैं। (क) निषादराजसे *'ग्राम बास नहिं उचित……'* ऐसा कहा, विभीषणजीसे *'पिताबचन मैं नगर न आवउँ'* ऐसा कहा और यहाँ *'पुर न जाउँ'* कहा—तीन जगह तीन पृथक्-पृथक् शब्द कहकर जनाया कि मैं ग्राम, नगर, पुर किसी (आबादी) में नहीं जाता। (ख) यहाँ *'दस चारि बरीसा'* कहते हैं, परन्तु कौसल्याजी और निषादराजसे *'बरष चारिदस'* कहा था। अर्थात् वहाँ पहले *'चारि'* कहकर *'दस'* कहा था और यहाँ प्रथम *'दस'* कहकर तब *'चारि'* कहा। यह व्यतिक्रम सहेतुक है। कौसल्याजीसे एवं निषादराजसे जब ये वचन कहे थे तब वनवासका प्रारम्भ था। कौसल्याजीसे जब कहा तब वनवास प्रारम्भ भी न हुआ था, पूरी अवधि बाकी थी और निषादसे जब कहा तब पूरे दो दिन भी न बीते थे। इसीसे अल्पकालवाचक *'चारि'* शब्द प्रथम कहा और दस पीछे कहकर जनाया कि अभी व्रतके बहुत दिन बाकी हैं। सुग्रीवसे जब कह रहे हैं उस समय वनवासके लगभग १३ वर्ष बीत चुके। बहुत काल बीत गया अल्प रह गया। इसीसे दीर्घकालवाची *'दस'* शब्द प्रथम दिया। विभीषणजीके यहाँ व्रतका अन्तिम दिन बीत रहा है, इसीसे वहाँ कालका नाम न लिया। वहाँ 'दस चार' कुछ भी न कहकर इतना ही कहा कि *'पिता बचन मैं नगर न आवउँ।'* विशेष भाव अयोध्याकाण्डमें देखिये।

नोट—६ यहाँ एक बात और देखने योग्य है। तीन काण्डों (अ०, कि०, लं०) में यह वार्ता आयी है और तीनोंमें राजधानीके ही स्थलोंपर ऐसा कहा है। निषादराज शृङ्गवेरपुरके राजा हैं, इनकी राजधानी

छोटी है, अत: यहाँ *'ग्रामबास'* कहा। सुग्रीवसे कहा जब उन्हें किष्किन्धाका राज्य मिला। किष्किन्धा राजधानी भी बड़ी सुन्दर है। वाल्मीकिजीने इसका वर्णन किया है पर वह लङ्काराज्यके सामने छोटी ही है और सिंग्रौरसे बहुत बड़ी है। अत: यहाँ *'पुर न जाउँ'* कहा और लङ्काराज्य जब विभीषणको मिल गया तब उनसे कहा कि *'पिता बचन मैं नगर न आवउँ।'* इस प्रकार अपने राज्यसे निकलनेपर तीन स्थानोंमें जहाँ-जहाँ कहा वहाँ राजाओंसे ही कहा। अयोध्यामें कहा, फिर अरण्य छोड़कर किष्किन्धामें कहा, फिर सुन्दर छोड़ लङ्कामें कहा गया। बाबा रामप्रसादशरणजीका मत है कि नगर, पुर और ग्राममें इससे न जाते थे कि इनमें राक्षस अनीति करते थे; यथा—*'जेहि जेहि देस धेनु द्विज पावहिं। नगर गाँव पुर आगि लगावहिं॥'* हो सकता है कि ऐसा हो, पर मुख्य कारण *'विशेष उदासी'*, *'बनवासी'* का वरदान है और यही रामजीने सर्वत्र कहा है।

पं०—यदि सुग्रीव कहें कि आप मुझे अभी शिक्षा क्यों देते हैं, आप भी तो नगरमें मेरे साथ रहेंगे, जब जो बात होगी, उसमें सलाह लेता ही रहूँगा। इसीपर प्रभु कहते हैं कि मैं साथ नहीं रह सकता।

गत ग्रीषम बरषा रितु आई। रहिहौं निकट सैल पर छाई॥ ८॥

अंगद सहित करहु तुम्ह राजू। संतत हृदय धरेहु मम काजू॥ ९॥

शब्दार्थ—'छा रहना, छाना'=निवास करना, बसना, टिकना, यथा—*'राम प्रबर्षन गिरिपर छाए', 'कहा भयो जो लोग कहत हैं कान्ह द्वारका छायो'*— (सूर), *'चित्रकूट रघुनंदन छाये'*

अर्थ—ग्रीष्मऋतु (=गर्मीके महीने) बीत गयी, वर्षाऋतु आ गयी, अत मैं (आपके) पास ही पर्वतपर निवास करूँगा॥ ८॥ तुम अङ्गदसहित राज्य करो, मेरे कार्यका सदा हृदयमें ध्यान रखना। अर्थात् राज्य-सुखमें पड़कर कार्य भूल न जाना॥ ९॥

टिप्पणी—१ *'गत ग्रीषम'''''''* इति। (क) भाव कि ग्रीष्मऋतुमें सीता-शोधका उपाय हो सकता था सो वह ऋतु बीत गयी, वर्षाऋतु आ गयी। अर्थात् अब खोजनेका समय नहीं रहा।—[नोट—यह श्रावणका महीना है। चतुर्मासमें जो जहाँ होते हैं वहीं रह जाते हैं। यह ऋतु उद्योगका समय नहीं समझा जाता। इसमें बाहर दुर्गम स्थानोंमें जानेवाले काम प्राय: बन्द रहते हैं। यही भाव 'वर्षाऋतु आई' का है। यथा—'**पूर्वोऽयं वार्षिको मास: श्रावण: सलिलागम:। प्रवृत्ता: सौम्य चत्वारो मासा वार्षिकसंज्ञिता:॥ नायमुद्योगसमय: प्रविश त्वं पुरीं शुभाम्।**' (वाल्मी० स० २६। १४-१५) पुन:; चतुर्मासमें यात्रा न करना धर्म माना जाता है। अत: यद्यपि श्रीरामजी सब समय शत्रुका वध करनेको समर्थ हैं तथापि मर्यादाका पालन करनेके लिये ऐसा कहा है। यह '**नियम्य कोपं परिशाल्यतां शरत्क्षमस्व मासांश्चतुरो मया सह। वसाचलेऽस्मिन्मृगराजसेविते संवर्तयञ्शत्रुवधे समर्थ:॥**' (वाल्मी० २७। ४८) लक्ष्मणजीके इन वाक्योंसे स्पष्ट है।] समयपर सब काम करना चाहिये, यथा—*'समरथ कोउ न राम सों तीयहरन अपराधु। समयहि साधे काज सब समय सराहहिं साधु॥'* (दो० ४४८) श्रीरामजीने विचार किया कि वर्षाऋतुमें हमारा काम करनेमें सुग्रीवको कष्ट होगा, इसीसे वे स्वयं ही कहने लगे कि ग्रीष्मऋतु गत हो गयी, वर्षा आ गयी, जिसका तात्पर्य यह है कि वर्षा बाद काम करना। [वाल्मी० सर्ग २८ में जो लक्ष्मणजीसे प्रभुने कहा है कि '**अयात्रां चैव दृष्ट्वेमां मार्गांश्च भृशदुर्गमान्। प्रणते चैव सुग्रीवे न मया किंचिदीरितम्॥ अपि चातिपरिक्लिष्टं चिराद्दारै: समागतम्। आत्मकार्यगरीयस्त्वाद्वक्तुं नेच्छामि वानरम्॥ तस्मात्कालप्रतीक्षोऽहं स्थितोऽस्मि शुभलक्षण॥**' (वाल्मी० २८। ६०-६१, ६३) यात्राका योग न देखकर और मार्गको दुर्गम समझकर शरणागत सुग्रीवसे मैंने कुछ न कहा। बहुत दिनोंपर उसे स्त्री मिली है और हमारा काम देरमें सिद्ध होनेवाला है इसलिये सुग्रीवसे इस समय कुछ कहना नहीं चाहा। इसी कारण कालकी प्रतीक्षा करता हुआ मैं ठहरा हूँ।—वह सब भाव भी इसमें आ जाता है। यद्यपि सुग्रीवसे कहा नहीं गया।]

टिप्पणी—२ *'रहिहौं निकट।'* भाव कि तुम मुझे अपने घर ले चलनेको कहते हो, मैं तुम्हारे समीप

ही टिकूँगा, दूर नहीं।—[*'गत ग्रीषम……छाईं'* प्रभुके इतना कहनेपर भी सुग्रीवने इतना भी न कहा कि आप पर्वतपर क्यों रहेंगे, नगरके निकट ही मैं पर्णकुटी बनवाये देता हूँ। पर्वतपर वर्षा असह्य होगी, आपको बहुत क्लेश होंगे और मुझको इससे बहुत दुःख होगा। कृपा करके पर्वतपर रहनेका विचार छोड़ दीजिये। इससे स्पष्ट है कि सुग्रीवके मनमें अब रामप्रेम नहीं रह गया। क्यों रहे! वह अब तो कपीश है और श्रीरामजी वनवासी हैं। इसीसे प्रभुको आगे कहना पड़ा कि *'संतत हृदय धरेउ मम काजू।' 'स्वारथ मीत सकल जग माहीं'* यहाँ चरितार्थ हुआ। (प० प० प्र०) 'निकट रहूँगा' यह कहना राजनीति है; क्योंकि समीप रहनेसे सुग्रीवको भय रहेगा, स्त्री आदिकी ममतामें न फँसेगा। (मा० म०) पुनः भाव कि वियोगका भय न करो। (प्र०)]

टिप्पणी—३ *'अंगद सहित……'* में ध्वनि यह है कि उसका निरादर न करना। *'संतत हृदय धरेहु'* कहा; क्योंकि निरन्तर हृदयमें कामका ध्यान रहनेसे उसे भूल न सकेंगे। ['अङ्गदसहित' कहनेका भाव कि जो राजकाज करो वह अङ्गदका सम्मत लेकर करो। निरन्तर हमारे कार्यको हृदयमें रखना (जिसमें विस्मरण न हो जाय) जबतक प्रकट करनेका समय न आवे। (पां०) पुनः भाव कि कार्यपर ध्यान बनाये रहोगे तो सम्भव है कि घर बैठे ही सीताजीका पता लग जाय। (वि० त्रि०)

प० प० प्र०—*'सरिता बन गिरि अवघट घाटा। पति पहिचानि देहिं बर बाटा॥'* जब ऐसी ही स्थिति है तब वर्षाकालमें शोधके कार्यमें सुग्रीवजीको न लगानेमें अनेक हेतु हैं—(१) मुख्य तो नरलीला करनी है। (२) यह भी प्रत्यक्ष दिखा देना है कि राज्य, स्त्री, कोष आदि प्राप्त होनेपर अपने उपकारी परम मित्रको भी लोग भूल जाते हैं। (३) यदि तुरन्त ही सीताशोधकार्यमें लगा दिये जाते तो उनको दुःख होता कि राजा होनेपर भी मेरी वही दुर्दशा बनी रही। (४) मित्रको सुखोपभोग करने और विश्राम लेनेका अवसर दे दिया, यह श्रीरामजीकी दीनबन्धुता है।

☞सुग्रीव-तिलक-प्रकरण *'राम कहा अनुजहि समुझाई'* से यहाँतक है।

'प्रवर्षण-वास'-प्रकरण

जब सुग्रीव भवन फिरि आए। राम प्रबरषन गिरि पर छाए॥१०॥

दो०—प्रथमहि देवन्ह गिरि गुहा राखेउ रुचिर बनाइ।

रामकृपानिधि कछुक* दिन बास करहिंगे आइ॥१२॥

अर्थ—तत्पश्चात् जब सुग्रीव घर लौट आये तब श्रीरामचन्द्रजी प्रवर्षणपर्वतपर जा टिके॥१०॥ देवताओंने पहलेसे ही उस पर्वतमें सुन्दर गुफा बना (सजा) रखी थी कि दयासागर श्रीरामजी आकर कुछ दिन यहाँ निवास करेंगे॥१२॥

नोट—१ पूर्व कहा था *'रहिहौं निकट सैल पर छाई',* यहाँ उसका नाम खोला। अध्यात्ममें भी प्रवर्षण नाम दिया है—'**ततो रामो जगामाशु लक्ष्मणेन समन्वितः। प्रवर्षणगिरेरूर्ध्वं शिखरं भूरिविस्तरम्॥**' (४। ३। ५३) (वाल्मी० २७। १) में इसे 'प्रस्रवण' कहा है—'**आजगाम सह भ्रात्रा रामः प्रस्रवणं गिरिम्।**' अर्थ दोनोंका एक ही है। अर्थात् जहाँ बहुत वर्षा होती है। इससे दोनों एक ही जान पड़ते हैं। यह पर्वत माल्यवान् पर्वतका ही एक भाग है। यथा—'**वसन्माल्यवतः पृष्ठे रामो लक्ष्मणमब्रवीत्।**' (वाल्मी० २८। १) (अर्थात् माल्यवान् पर्वतपर निवास करते हुए श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मणजीसे बोले।) और यह किष्किन्धाके समीप ही मतङ्ग ऋषिके आश्रमकी सीमामें है।

टिप्पणी—१ *'प्रथमहि देवन्ह………'* इति। चित्रकूटमें श्रीरामजीके पहुँचनेपर देवताओंने कुटी बनायी और यहाँ प्रथमसे ही गुहा बना रखी। देवताओंद्वारा बनायी गयी; इसीसे 'गुहा' कहते हैं, यथा—*'देव खात बिले गुहा इति।'* (अमरकोश)

* कछु—(भा० दा०) कछक—(का०)

टिप्पणी—२ कृपानिधिका भाव कि हमपर कृपा करके गुहामें रहकर हमारा परिश्रम सफल करेंगे। [पुनः भाव कि हमारे दुःखको हरनेके लिये ही *'सहत राम नाना दुख भारा'* ऐसे कृपासागर हैं, अतः हमारा कर्तव्य है कि उनके चतुर्मासनिवासके लिये उनके योग्य 'रुचिर' गुहा बना दें। (प० प० प्र०)]

प्रथमसे ही गुहा बनानेका भाव

१—मा० म०—जब श्रीजानकीजीके साथ रहना था तब पर्णकुटीकी आवश्यकता थी। इसीसे चित्रकूट और गोदावरीतटपर पर्णकुटीमें रहते रहे, यथा—*'रचे परन तृन सदन सुहाये।'* (२। १३३) *'गोदावरी निकट प्रभु रहे परन गृह छाइ।'* (३। १३) अब प्रियारहित हैं, इससे कन्दराको ही प्रभु उचित समझते हैं; वैसी ही प्रेरणा उन्होंने देवताओंको कर दी।

२—रा० प्र० श०—यहाँ प्रथमसे बनाया, क्योंकि वर्षामें पहाड़को शीघ्र खोदना कठिन है।

३—पूर्व देवताओंको सन्देह था कि लौट न जायँ, इससे पहुँचनेपर बनाया और अब विश्वास है कि हमारा कार्य अवश्य करेंगे, लौटेंगे नहीं।

पं०—देवता जानते हैं कि यहाँ वास करेंगे, इससे बना रखा था। 'सुग्रीव न जानते थे कि गिरिपर वास करेंगे' इससे उनका बनाना न कहा। सुग्रीव अब बनवाते पर वहाँ प्रथमसे ही तैयार थी।

नोट—२ श्रीरामजीको इस गुहाका पता कैसे लगा? अ० रा० में लिखा है कि प्रवर्षणगिरिपर चलते हुए उन्होंने स्फटिकमणिकी एक स्वच्छ और प्रकाशमान गुफा देखी, जिसमें वर्षा, वायु और घामसे बचनेका सुभीता था तथा पास ही कन्द, मूल, फल भी लगे हुए थे। पर्वत-गुहा बड़ी रमणीय थी। सभी प्रकारका यहाँ सुपास था। अतः वहाँ रह गये। यथा—'**तत्रैकं गह्वरं दृष्ट्वा स्फाटिकं दीप्तिमच्छुभम्। वर्षवातातपसहं फलमूलसमीपगम्॥**' (३। ५४)

सुंदर बन कुसुमित अति सोभा। गुंजत मधुप निकर मधु लोभा॥ १॥
कंद मूल फल पत्र सुहाए। भए बहुत जब ते प्रभु आए॥ २॥

शब्दार्थ—**मधुप**=मधु पीनेवाले=भ्रमर, भौंरा। **मधु**=मकरंद, फूलका रस।

अर्थ—सुन्दर वन फूला हुआ अत्यन्त शोभित है। मधुके लोभसे भ्रमरसमूह गुंजार कर रहे हैं॥ १॥ जबसे प्रभु आये तबसे वनमें सुन्दर कन्द-मूल फल-पत्ते बहुत हुए (क्योंकि ये उनके कामके हैं)॥ २॥

टिप्पणी—१ (क)—वनकी शोभाका विस्तृत वर्णन वाल्मी० सर्ग २७, २८ में है। उसीको यहाँ 'सुन्दर' विशेषणसे जनाया है। (ख)—वनमें साधारण ही शोभा रहती है पर इस समय वह कुसुमित है, इससे *'अति शोभा'* है। यथा—'**मालतीकुन्दगुल्मैश्च सिन्दुवारैः शिरीषकैः। कदम्बार्जुनसर्जैश्च पुष्पितैरुपशोभितम्॥**' (वाल्मी० २७। १०) (ग)—मधुके लोभसे गुंजार कर रहे हैं, इसीसे *'मधुप'* (=मधु पीनेवाले) नाम दिया।

टिप्पणी—२ *'भए बहुत.........'* अर्थात् थे तो पहिले भी पर अब बहुत हुए। ☞यहाँतक स्थावरकी सेवा कही, आगे जंगमकी सेवा कहते हैं, यथा—*'मधुकर खग मृग तनु धरि देवा'* इत्यादि।

देखि मनोहर सैल अनूपा। रहे तहँ अनुज सहित सुरभूपा॥ ३॥
मधुकर खग मृग तनु धरि देवा। करहिं सिद्ध मुनि प्रभु कै सेवा॥ ४॥

अर्थ—मनको हरनेवाला 'अनूप' पर्वत देखकर देवताओंके राजा राम भाईसहित वहाँ रहे॥ ३॥ देवता, सिद्ध, मुनि, भ्रमर, पक्षी, पशु (वा, हिरण) के शरीर धारण कर-करके प्रभुकी सेवा कर रहे हैं॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क)—*अनूप*=उपमारहित। अथवा, उस पर्वतमें बहुत जल होनेसे अनूप कहा। **अनूप**=जलप्राय, वह स्थान जहाँ जल अधिक हो, यथा—'**अनुगता आपो यस्मिंस्तदनूपम्। जलप्रायमनूपं स्यात् इति**' (अमरकोश) इसीसे इसका नाम प्रवर्षण है। (ख) प्रथम वनकी शोभा कहकर तब मनोहर शैलका देखना कहकर जनाया कि यह वन पर्वतके ऊपर है। (ग)—*'सुरभूपा'* का भाव कि देवताओंके अंश वानर हैं, ये ही यहाँ श्रीरामजीकी प्रजा हैं जिनकी वे रक्षा करते हैं। पुनः, देवता, पक्षी, पशु आदि रूपसे

सेवा कर रहे, और पूर्व अपने रूपसे गुहा बनानेकी सेवा कर चुके हैं, अतएव यहाँ प्रभुको **'सुरभूप'** कहा। [वा, देवताओंके हितार्थ नरराज पदवीको छोड़कर शैलपर आकर बसे, अतः सुरभूप कहा। (पां०) सुररूपी प्रजाका पालन-रक्षण करनेके लिये यहाँ आकर बसे हैं, अतः सुरभूप कहा। प० प० प्र० स्वामीका मत है कि **'सुरभूप'**=सुरभू (सुरलोक)+प। देवताओंको उनके लोकोंमें बसानेके लिये यहाँ आकर रहे, अतः **'सुरभूप'** कहा।]

टिप्पणी—२ ***'मधुकर खग मृग तनु धरि देवा।'*********** इति। (क)—ये रूपान्तरसे क्यों आये? उत्तर—क्योंकि मर्यादापुरुषोत्तम इनसे साक्षात् रूपसे सेवा न कराते। (ख) मधुकरकी सेवा गुंजार, पक्षीकी सेवा मधुर सुरीली बोली और मृगोंकी सेवा नेत्रोंकी शोभा दिखाना है। यथा—***'मृग बिलोकि खग बोलि सुबानी। सेवहिं सकल राम प्रिय जानी॥'*** (२। ३११। ८) (ग)—चित्रकूटमें देवता कुटी बनानेके लिये कोल-किरातके वेषसे आये, यथा—***'कोल किरात बेष सब आए। रचे परन तृन सदन सुहाए॥'*** (२। १३३। ७) और यहाँ भ्रमरादि रूपसे आये। वहाँ कुटी बनानी थी जो काम कोल-किरात किया करते थे और यहाँ राम विरही हैं, उनका मन रमाना है, इससे यहाँ भ्रमर आदि रूपसे आये। ये मधुकर दिव्य मधुप हैं और पूर्वकथित, ***'गुंजत मधुप निकर मधु लोभा'*** वाले मधुप प्राकृत हैं। प्राकृत मधुप मधुके लोभी हैं और ये सेवाके।

☞मिलान कीजिये—**'रामं मानुषरूपेण गिरिकाननभूमिषु॥ चरन्तं परमात्मानं ज्ञात्वा सिद्धगणा भुवि। मृगपक्षिगणा भूत्वा राममेवानुसेविरे॥'** (अध्यात्म० सर्ग ४। ४-५) अर्थात् यह जानकर कि परमात्मा राम नररूपसे पर्वत और वन-भूमिपर विचर रहे हैं, सिद्धगण मृग, पक्षिरूप होकर सेवा करने लगे। ☞यहाँ *'देवा'* कहकर ***'सिद्ध मुनि'*** को भी देवकोटिवाले सिद्ध और मुनि जनाये। **'सिद्ध'** देवताओंकी एक जाति भी है।

रा० प्र० श०—यहाँ मुनि भ्रमर हैं, क्योंकि भ्रमर जब उड़ता है तब गुंजारता है और पुष्पपर बैठनेसे मौन हो जाता है। मौन होकर मनन करता है। सिद्ध पक्षी हैं; क्योंकि पक्षी एक जगहसे उड़कर दूसरी जगह जाता है; ऐसे ही सिद्ध लोग सिद्धिके बलसे स्थानान्तरमें जा सकते हैं। देवता मृग हैं; क्योंकि विषयी होनेसे वे चञ्चल होते हैं वैसा ही स्वभाव मृगोंका है।

बै०—देवता भ्रमर हो गान सुनाते, सिद्ध पक्षी हो बोली बोलते और मुनि मृग होकर सदा समीप रहते हैं।

मंगलरूप भएउ बन तब ते। कीन्ह निवास रमापति जब ते॥ ५॥
फटिकसिला अति सुभ्र सुहाई। सुख आसीन तहाँ द्वौ भाई॥ ६॥

अर्थ—जबसे रमापति श्रीरामजीने यहाँ निवास किया तबसे वन मङ्गलरूप हो गया॥ ५॥ स्फटिक मणिकी एक अत्यन्त उज्ज्वल शिला शोभित है, उसीपर दोनों भाई सुखपूर्वक बैठे हैं॥ ६॥

नोट—१ ***'मंगलरूप भएउ'*********** इति। इससे जनाया कि इसके पूर्व निशाचरोंके अत्याचारसे तथा अधम-अभिमानी वालीका राज्य-प्रदेश होनेसे यह अमङ्गलरूप था। वालीका नाश करके यहाँ निवास करनेपर वह मङ्गलरूप हो गया।

प० प० प्र०—जब श्रीसीता-राम-लक्ष्मणजी चित्रकूटपर आकर रहे तब उस पर्वत और वनका मङ्गलमय होना कहा गया। यथा—*'जब तें आइ रहे रघुनायक। तब तें भयउ बन मंगल दायक॥'* (२। १३७। ५) ***'सो बन सैल सुभाय सुहावन। मंगलमय अति पावन पावन॥'*** (२। १३९। ३) पर यद्यपि वे ही तीनों जब पञ्चवटीपर आकर रहे तब पञ्चवटीवनका मङ्गलमय बनना न कहा। अरण्यकाण्ड और लङ्काकाण्डमें भी मङ्गल शब्दका प्रयोग नहीं है। बीचमें यहाँ किष्किन्धाकाण्डमें प्रवर्षणपर्वतपर निवास करनेपर इसका मङ्गलमय होना कहा है। यह भेद भी साभिप्राय है।

श्रीरामजी मङ्गलभवन-अमङ्गलहारी हैं। अमङ्गलका विनाश किये बिना मङ्गल नहीं होता। पञ्चवटीके निकट ही जनस्थानमें खर-दूषणादि चौदह हजार दुर्जय राक्षसोंका निवास था जो मुनियोंको खाया करते थे।

उनके रहते हुए पञ्चवटीवनको मङ्गलमय कैसे कह सकते थे? [दूसरे, यहीं सीता-हरण, परमभक्त जटायुका रावणद्वारा वध इत्यादि अमङ्गल कार्य होंगे, अतः इसका मङ्गलमय बनना कैसे कह सकते थे? इसी स्थानसे तो शोक, विलाप, विरहका प्रारम्भ होगा।] किष्किन्धामें अधम अभिमानी आततायी वाली जो रावणका मित्र था राज्य करता था, जबतक वह जीता रहा तबतक वहाँके पर्वत और वन अमङ्गलमय ही थे, जब वह मारा गया, भक्त सुग्रीवका राज्य हुआ, तब पर्वत और वनका मङ्गलरूप होना कहा गया। लङ्कामें विभीषणका राज्य होनेपर भी राक्षस तो बने ही रहे, अतः उस काण्डमें मङ्गल शब्दका प्रयोग नहीं है। [लङ्कामें सुवेलपर्वतपर निवास करनेपर उसका मङ्गलरूप होना न कहा; क्योंकि यहाँ तो घोर युद्ध होगा, कितने ही वानर-भालू मरेंगे, लक्ष्मणजीको शक्ति लगनेपर विलाप आदि सब देखनेमें अमङ्गल लीलाएँ होंगी। रावणवध होते ही श्रीरामजी वहाँसे चल दिये। आगे वहाँ निवास हुआ ही नहीं। निवास होता तो मङ्गलरूप कहते।] बालकाण्डमें 'मङ्गल' शब्द सौ बारसे कम नहीं आया है। अयोध्याकाण्डमें ६७ बार आया है।

नोट—२ *'रमापति'* इति। (क) लक्ष्मीसे मङ्गल होता है। वन मङ्गलरूप हो गया, इसीसे यहाँ *'रमापति'* कहा। (पं० रा० कु०) *'रमापति'* संज्ञा साभिप्राय है क्योंकि लक्ष्मीकान्त ही अनैश्वर्यवान्‌को ऐश्वर्यवान् और मङ्गलरूप कर सकते हैं। यह 'परिकराङ्कुर अलङ्कार' है। रमापतिके निवाससे वनके मङ्गलरूप होनेमें 'प्रथम उल्लास' की ध्वनि है। (ख) पंजाबीजी लिखते हैं कि यहाँ *'रमापति'* विशेषण इससे दिया कि कोई यह न कहे कि अब रघुनाथजीका विपत्तिकाल है। भाव यह कि जिनके निवाससे गिरि और वनकी आपदा नष्ट हो जाती है उनको विपत्ति कहाँ? वा, यह जनाया कि जहाँ प्रभु होंगे वहाँ श्री भी साथ ही रहती है। यहाँ सीतातनका वियोग था, इससे प्रभुके मनको रमानेके लिये रमा सारे वनको शोभित कर रही हैं। (पं०) मानो रमा ही वन-श्रीके रूपमें अवतरित हुई हैं—(प० प० प्र०)। (ग) प० प० प्र० स्वामीका मत है कि यहाँ *'रमापति'* शब्दसे काकभुशुण्डि-नारद-शाप-सम्बन्धित कथा सूचित की गयी है।

☞ *'जब सुग्रीव भवन फिरि आए'* से यहाँतक *'प्रभुकृत सैल प्रबर्षन बास'* प्रसङ्ग है।

'वर्षा-वर्णन'-प्रकरण

कहत अनुज सन कथा अनेका। भगति बिरति नृपनीति बिबेका॥ ७॥
बरषाकाल मेघ नभ छाए। गरजत लागत परम सुहाए॥ ८॥

अर्थ—श्रीरामजी छोटे भाईसे भक्ति, वैराग्य, राजनीति और ज्ञानकी अनेक कथाएँ कहते हैं॥ ७॥ वर्षाकालमें मेघ आकाशमें छाये (घिरे, फैले) हुए हैं, वे गरजते हुए बड़े ही सुहावने लगते हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१ ☞ अध्यात्मरामायणमें इस स्थानपर पूजनका प्रकरण वर्णन किया गया है। वाल्मीकीयमें वन-वर्णन किया है और उसीमें अपने विरहकी और सांसारिक व्यवहारकी उपमा दी है। अन्य रामायणोंमें और तरह मुनियोंने वर्णन किया है। इसीसे गोस्वामीजी सबका मत ग्रहण करनेके वास्ते, अनेक कथाओंका कहना लिखते हैं। भागवत और विष्णुपुराणमें वर्षा वर्णन की है, ज्ञान-वैराग्य-भक्ति और राजनीतिकी उपमा दी है; इसी मतको गोस्वामीजी विस्तारसे वर्णन करते हैं।

टिप्पणी—२ भक्ति शाण्डिल्यसूत्रमें, वैराग्य सांख्यशास्त्रमें, नीति धर्मशास्त्रमें और ज्ञान वेदान्त-शास्त्रमें है।

टिप्पणी—३ यहाँ प्रथम 'भक्ति' कही। क्योंकि अरण्यकाण्डमें लक्ष्मणजी भक्तियोग सुनकर अत्यन्त सुखी हुए थे, यथा—*'भगति जोग सुनि अति सुख पावा।'* अरण्यकाण्डमें ज्ञान, वैराग्य, भक्ति और नीति समझाकर कह चुके हैं, अब यहाँ उनके समझानेका प्रयोजन नहीं है; इसीसे यहाँ कथा कहते हैं। कथा कहना-सुनना श्रीरामजीको प्रिय है।

टिप्पणी—४ *'गरजत लागत परम सुहाए'* इति। *'परम सुहाए'* का भाव कि आकाशमें छाये हुए सुहावने लगते हैं और जब गरजते हैं तब *'परम सुहाए'* लगते हैं।—(अपने-अपने समयपर सब बातें सुहावनी लगती ही हैं।)

श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मणजीको मेघ और मोर दिखाते हैं। दोहेका *'लछिमनु देखु'* देहलीदीपक है। यहाँ आकाशमें मेघोंकी सुन्दरता दिखाकर आगे पृथ्वीपर मोरोंका नृत्य दिखाते हैं। अन्वय यों है—*'बरषाकाल मेघ नभ छाए। गरजत लागत परम सुहाए॥' 'लछिमन देखु'* और *'लछिमन देखु मोरगन नाचत'''''''।'*

☞यहाँ अपने आचरणद्वारा उपदेश देते समय सदैव भक्ति, वैराग्य, ज्ञान और नीतिहीमें व्यतीत करे, व्यर्थ न खोवे। (श्रीरामावतार लोगोंको शिक्षा देनेके लिये हुआ—'**मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणम्**।')

नोट—१ मिलान कीजिये—'**अयं स कालः संप्राप्तः समयोऽद्य जलागमः। संपश्य त्वं नभो मेघैः संवृतं गिरिसन्निभैः**।' '**नवमासधृतं गर्भं भास्करस्य गभस्तिभिः। पीत्वा रसं समुद्राणां द्यौः प्रसूते रसायनम्**॥' (वाल्मी० २८। २-३) अर्थात् यह जल बरसनेका समय आ गया। पर्वतके समान मेघोंने आकाशको घेर लिया, तुम देखो। सूर्यकी किरणोंसे समुद्रका जल पीकर आकाश नौ महीने गर्भ धारण करता है और पुनः रसायन-स्वरूप जल बरसाता है। भा० १० अ० २० में श्रीशुकदेवजीके '**सान्द्रनीलाम्बुदैर्व्योम सविद्युत्स्तनयित्नुभिः**।'''''''**अष्टौ मासान् निपीतं यद् भूम्याश्चोदमयं वसु। स्वगोभिर्मोक्तुमारेभे पर्जन्यः काल आगते**॥' (४-५) इन श्लोकोंमें भी वही भाव है। अर्थात् नीले सघन मेघ आकाशमें छा गये''''''' जैसे राजा प्रजासे धन लेकर पीछे प्रजाको ही दे देता है, वैसे ही सूर्य पृथ्वीरूपी प्रजासे आठ महीनेतक जलरूपी कर अपने किरणोंरूपी सेवकोंद्वारा ग्रहण करता रहा और अब समय आनेपर फिर उसीको बाँटने लगा।

इन श्लोकोंमें मेघोंके छाये हुए होनेद्वारा राजनीति कही गयी है। अतः *'बरषाकाल मेघ नभ छाए''''''।'* में नीतिका वर्णन हुआ।

नोट—२ मा० म० कारका मत है कि 'मेघोंका गरजना मानो देनेको कहना है। इसीसे सुहावने लगते हैं।'

दो०—लछिमन देखु मोरगन नाचत बारिद पेखि।
गृही बिरति रत हरष जस बिष्नु भगत कहुँ देखि॥ १३॥

अर्थ—लक्ष्मण! देखो, मोरोंके समूह मेघोंको देखकर नाच रहे हैं, जैसे वैराग्यवान् गृहस्थ विष्णुभक्तको देखकर हर्षित होते हैं॥ १३॥

नोट—१ यह दोहा (भा० १०। २०) में श्रीशुकदेवजीके '**मेघागमोत्सवा हृष्टाः प्रत्यनन्दन् शिखण्डिनः। गृहेषु तप्ता निर्विण्णा यथाऽच्युतजनागमे**॥' इस श्लोकका प्रतिरूप ही है। अर्थ यह है—मेघोंके आगमनरूपी उत्सवसे प्रसन्न मोरगण ऐसे आनन्दित हुए जैसे गृहजंजालसे तप्त वैराग्यको प्राप्त गृहस्थ भगवद्भक्तके आगमनसे प्रसन्न होता है। मानसके *'नाचत बारिद पेखि'* में '**मेघागमोत्सवा हृष्टाः प्रत्यनन्दन्**' के भाव हैं। अर्थात् मेघोंको देखकर मोरोंका रोम-रोम खिल उठा, वे अपनी कुहुक और नृत्यके द्वारा आनन्दोत्सव मनाना जना रहे हैं। *'गृही बिरति रत'* में '**गृहेषु तप्ता निर्विण्णा**' का भाव है। *'गृहकारज नाना जंजाला। तेइ अति दुर्गम सैल बिसाला॥'* तथा *'गृहासक्त दुखरूप'* और *'मन करि बिषय अनल बन जरई'* इत्यादि कहा ही है। इनसे तथा त्रितापसे जीव जलता रहता है तब भी वैराग्य नहीं होता, यथा—*'होइ न बिषय बिराग भवन बसत भा चौथ पन।'* (मनुवाक्य) जो त्रितापसे जले, गृहजंजालसे घबड़ाकर विषयोंसे वैराग्यवान् हो रहे हैं उन्हींको यहाँ कह रहे हैं; वे ही भगवद्भक्तको देखकर खिल उठते हैं, वे अपनी प्रेममयी वाणीसे उनका स्वागत करते हैं। विशेष टिप्पणी ३ में देखिये।

टिप्पणी—१ (क) सजल मेघोंका शब्द सुनकर मोर नाचते हैं, इसीसे प्रथम मेघोंका गरजना—*'गरजत लागत परम सुहाए'* कहकर तब मोरोंका नाचना कहा। (ख) *'बारिद पेखि'* इति। मेघ जल देते हैं इसीसे बारिद कहलाते हैं। मोर यह जानकर नाचते हैं कि हमको ये *'बारि'* देंगे। (ग) *'गृही बिरति रत'''''''* इति। मोर नाचते हैं कि हमें जल मिलेगा और विरक्त गृहस्थ हर्षित हैं कि हमें रामयश सन्तसे प्राप्त होगा—[*'गृही बिरति रत'* से गृहस्थीमें रहकर अपने धर्मको निबाहनेवाले विरक्त लोगोंसे तात्पर्य है। जैसे जनकमहाराज, मनुमहाराज। *'भवन बसत भा चौथपन', 'बरबस राज सुतहि नृप दीन्हा',* इत्यादि विष्णुभक्तिके साधन हैं।

अपने-अपने धर्ममें वेदाज्ञानुसार लगे रहनेसे विषयोंसे वैराग्य होता है, तब भागवत धर्ममें प्रीति उत्पन्न होती है। यथा—'*निज निज कर्म निरत श्रुति रीती॥ एहि कर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा॥*' (३।१६।६-७) पुनः, 'गृही और वैराग्यवान् दोनों' ऐसा भी अर्थ कर सकते हैं। दोनों आनन्दित होते हैं। गृहस्थ यह समझकर आनन्दित होता है कि जो मैंने धन बटोरा है वह आज इनकी सेवासे सुफल हो जायगा। वैराग्यमें अनुरक्त जो साधनमें तत्पर है वह आनन्दित होता है कि आज इनके सत्संगसे आगेकी भूमिकाका लाभ उठानेको मिलेगा। (प्र०)]

टिप्पणी—२ वर्षा-वर्णनमें मयूरका आनन्द वर्णन करना, यह कवियोंका नियम है। प्रमाण यथा—'*कोकिल को कल बोलिबो बरनत हैं मधुमास। बर्षाहीं हरषित कहहिं केकी केशवदास॥*' (इति कविप्रियाग्रन्थ) इसीसे गोसाईजी वर्षा-वर्णनके प्रारम्भमें मयूरका नाचना लिखते हैं।

टिप्पणी—☞३ यहाँ भक्ति और वैराग्य कहे। यहाँ उदाहरण-अलंकार है।

* (समता) *

१ विरतिरत गृही मोरगण हैं　　२ विष्णुभक्त बारिद हैं।

३ रामयश जल है, यथा—'*सुमति भूमि थल हृदय अगाधू। बेद पुरान उदधि घन साधू॥ बरषहिं राम सुजस बर बारी। मधुर मनोहर मंगलकारी॥*' (१।३६।३-४)

४ गृही विषय-भोग गृहजालसे संतप्त; मोर ग्रीष्म-तापसे तपे रहते हैं।

५ सन्त गरज-गरजकर रामयश कहते हैं जिससे गृही हर्षित होता है, मेघ गरज-गरजकर बरसते हैं जिससे मोर आनन्दित हो नाचते हैं।

६ सन्तदर्शनसे गृहस्थ अत्यन्त सुखी होते हैं। यथा—'*संत मिलनसम सुख जग नाहीं।*' (७।१२१।१३) क्योंकि सत्संगसुखसे बढ़कर कोई सुख नहीं है—'*तात स्वर्ग अपवर्ग सुख धरिय तुला एक अंग। तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥*' (५। ४) मेघको देखकर मोर अत्यन्त सुखी होते हैं। अब उनके पक्ष जमेंगे।

७ जैसे वर्षाकालके सजल मेघ सुहाये लगते हैं वैसे ही सन्त सब अच्छे लगते हैं। बादल गरजनेपर परम सुहावने लगते हैं। वैसे ही सन्त जो रामयश गरजते हैं वे विशेष अच्छे लगते हैं।

मा० म०—'*सुत बित लोक ईषना*' ये तीनों सबकी बुद्धिको मलिन कर देते हैं। गृहस्थ जो इन तीनोंके दुःखसे संतप्त होकर मन-कर्म-वचनसे परमात्मामें रत होकर विरक्त हो गये, उनको हरिभक्तोंके सत्संगसे श्रेष्ठ सुखका मूल प्राप्त होनेसे आनन्द होता है। मोर ग्रीष्म-तापसे क्षीण हो गये थे, वर्षागमनसे मयूरनीके साथ आनन्द अनुभव करने लगे, जैसे गृहस्थ भक्त भक्तिरससे पुष्ट होकर कर्मादिकके दुःसह तापसे मुक्त होकर प्रकट सुखमें मग्न हो विह्वल हो रहे हैं।

प० प० प्र०—इस दोहेमें पूर्णोपमा नहीं है। केवल दर्शनसे आनन्दित होना यही साम्य लेना उचित है, अन्यथा बहुत अनर्थ होगा और विरतिरत गृहस्थपर दम्भ, कठोरता और प्रेमपथकी अयोग्यता आरोपित होगी; क्योंकि मोरमें ये सब अवगुण कहे गये हैं। यथा—'*मधुर बचन बोलहिं जिमि मोरा। खाहिं महा अहि हृदय कठोरा॥*' '*भले तै सुक पिक मोर ज्यों कोउ न प्रेम पथ जोग।*' (दो० ३३१)

मा० म० (मयूख)—'*लछिमन देखु*.......' इस पूर्वार्द्धसे दिनका बोध होता है, क्योंकि मेघको देखकर मोर दिनहीमें नाचता है। पुनः, '*गृही बिरति रत*.......' इस उत्तरार्द्धसे आर्द्रा नक्षत्रकी अँधियाली रात्रिका बोध होता है; क्योंकि रातको न चलनेके कारण विष्णुभक्त गृहस्थोंके घर विश्राम करते हैं। इस दोहेमें राजनीति, विरति और भक्ति तीनोंका कथन है—(पां०)।

करु०—इस वचनका अभिप्राय यह है कि गृहस्थ वैरागीकी रामभक्तमें प्रीति हो तभी वह कृतार्थ है। यदि उनके दर्शनसे आह्लाद न हुआ तो समझना चाहिये कि उसका वैराग्य कच्चा है।

यहाँसे वर्षा और शरद्वर्णनमें 'उदाहरण-अलंकार' है।

घन घमंड नभ गरजत घोरा। प्रिया हीन डरपत मन मोरा॥ १॥
दामिनि दमक रह न घन माहीं। खल कै प्रीति जथा थिरु नाहीं॥ २॥

शब्दार्थ—**घमण्ड**=गर्वसहित।=समूह—(मा० म०, मा० त० भा०)।=घुमड़-घुमड़कर।

अर्थ—मेघोंके समूह गर्वपूर्वक घुमड़-घुमड़कर आकाशमें घोर गर्जन कर रहे हैं*, प्रियाहीन होनेसे मेरा मन डर रहा है॥ १॥ बिजलीकी चमक बादलमें नहीं रहती (ठहरती नहीं), जैसे खलकी प्रीति स्थिर नहीं रहती॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) ऊपर *'मोरगन नाचत बारिद पेखि'* कहा, उस सम्बन्धसे यहाँ *'प्रियाहीन'* का भाव यह है कि हम प्रियाहीन हैं और सब मयूर प्रियायुक्त हैं। इनकी मयूरीका हरण राक्षसने नहीं किया, इसीसे ये नाचते हैं। (ख) *'प्रियाहीन डरपत मन मोरा'* इति। मेघका गरजना, बिजलीका चमकना और मोरका नाचना—ये सब शृङ्गार-रसके उद्दीपक विभाव हैं, इसीसे विरहीको दुःखदायी होते हैं। इसी भावसे प्रभु कहते हैं कि *'प्रियाहीन डरपत""।'* [यहाँ श्रीरघुनाथजी विरह दिखाते हैं। शृङ्गार दो प्रकारका होता है—एक संयोग, दूसरा वियोग। यहाँ वियोग है, इसीसे वर्षाकालके मेघोंका गर्जन दुःखद हो रहा है। (करु०) पावसमें *'घन घमंड नभ गर्जन'* बड़ा भारी उद्दीपन है। सम्भोग शृङ्गारमें जो हित हैं वे ही विप्रलम्भमें पीड़ाके कारण हो जाते हैं। यथा—*'जे हित रहे करत तेइ पीरा।'* (वि० त्रि०) (ग) अब प्रश्न होता है कि प्रियाहीन होनेके कारण तीव्र उद्दीपनसे विरह-पीड़ा बढ़ जायगी, पर डरनेकी बात यहाँ क्या आयी? उत्तरमें कहा जा सकता है कि गर्जनके बाद बरसनेका बड़ा भारी भय है। यथा—*'बारिद तप्त तेल जनु बरिसा।'* वर्षा तप्त तेलके समान दुःखद होगी। इसीलिये सरकार कहते हैं कि *'प्रियाहीन डरपत मन मोरा।'* (वि० त्रि०) यहाँ ध्वनिसे श्रीरघुनाथजी श्रीजानकीजीमें अपना प्रेम दिखा रहे हैं। (करु०) आगे सुन्दरकाण्डमें हनुमान्‌जीद्वारा कहे हुए संदेशसे यही भाव स्पष्ट होंगे। यथा—*'मो कहँ भये सकल बिपरीता।'* वाल्मी० में भी श्रीरामजीने लक्ष्मणजीसे कहा है कि शोकसे पीड़ित और सीतासे विरहित मुझे वर्षाके ये चार महीने सौ वर्षोंके समान जान पड़ते हैं। सीता विषम दण्डकारण्यको उद्यान समझकर मेरे साथ आयी थी। यथा—'**चत्वारो वार्षिका मासा गता वर्षशतोपमाः। मम शोकाभितप्तस्य सौम्य सीतामपश्यतः॥' चक्रवाकीव भर्तारं पृष्ठतोऽनुगता वनम्। विषमं दण्डकारण्यमुद्यानमिव चाङ्गना॥**' (३०। ६४-६५)] ☞(ग) यहाँ नीति और वैराग्य है।

मा० म०—श्रीरामचन्द्रजीके वचनमें यह भी ध्वनि है कि मेरी प्रिया मेरे साथ रही, परंतु न जाने कहाँ चली गयी, इसी दुःखसे मैं दुःखित हूँ, मैं उनको नहीं कहता जो स्त्रीके संनिकट नहीं जाते वरन् दूर रहते हैं। पुनः वह अन्यत्र चली गयी जहाँ दुःखका समूह है और यहाँ सुखका समूह है; अतः मेरा मन डरता है।

शीला—इस प्रकरणमें उपाख्यान 'विवेक-रीति' का है। चौपाई-चौपाईमें प्रति दो-दो बातें कही हैं। श्रीरामजी वक्ता हैं, इस कारण इसमें यह अर्थ करनेसे कि 'सीताके बिना मेरा मन डरता है' विरोध होगा। इस प्रकरणभरमें ४६ चौपाइयोंमें दो-दो बातें कही हैं तब यहाँ भी दो ही बातें होना ठीक हैं (एक दृष्टान्त दूसरा दार्ष्टान्त)। (अर्थात् रामजीने छः दोहों और ४० चौपाइयोंमें कहीं अपने ऊपर कोई बात नहीं कही, तब यहाँ कैसे कहेंगे।) अतएव इसका निर्वाह करनेके लिये *'मोरा'* का अर्थ 'मोड़े हुए' मुड़े हुए, करना होगा। भावार्थ यह है कि 'जो प्रियाहीन हैं, सांसारिक विषयोंसे मन मोड़े अर्थात् फेरे हुए हैं, ऐसे उदासी लोग वनमें बादलोंका गर्जन सुनकर डरते हैं। बादल कामदेवका समाज है, गर्जन कामदेवकी ललकार है।

पं०—यहाँ वैराग्य है। प्रियाके संयोगसे वियोग होनेपर प्रभुको दुःख हुआ, अतः इससे उपदेश देते हैं कि उसका त्याग ही शुभ है।

---

* प० प० प्र०—ऊपर 'गरजत लागत परम सुहाए' कहा है, अतः यहाँ गर्जनको 'घोर' कहना असंगत है। एक ही समय मधुर और भयंकर होना असम्भव है, यथा—'मधुर मधुर गर्जइ घन घोरा। होइ बृष्टि जनि उपल कठोरा॥' अतः 'घोरा' को 'घन' का विशेषण मानकर 'विशाल, बड़े-बड़े' अर्थ करना चाहिये।

वीरकवि—मेघोंके भीषण गर्जनसे मनमें भयका संचार-कथन दूसरा उल्लास अलंकार है।

प० प० प्र०—१ यहाँ श्रीसीताजीके स्मरणका कारण तो पिछले दोहेके दृष्टान्तमें है। '*गृही बिरति रत*' और 'विष्णु-भक्त' इन वचनोंसे उनकी स्मृति करायी। श्रीरामजी गृही हैं, विरतिरत हैं—'*मुनिब्रत बेष अहार।*' रमापतिसे विष्णु-अवतारीकी सूचना दी गयी। सीताजी विष्णुभक्त हैं। भाव यह कि श्रीसीताजीरूपी विष्णुभक्तका दर्शन न होनेसे मैं विरतिरत गृही होनेपर भी दुःखी हूँ।

प० प० प्र०—२ वर्षावर्णनके प्रारम्भ और शरद्वर्णनके अन्तमें सीतावियोग दुःख स्पष्ट कर दिया है। बीचमें स्पष्ट नहीं कहा है पर दृष्टान्तोंमें ध्वनित है। यह ध्यान रखकर ही अर्धालियोंका अर्थ करना उचित है।

टिप्पणी—२ '*दामिनि दमक*·······' इति। (क) मेघ आकाशमें हैं, मोर पृथ्वीपर हैं। दोनोंके बीचमें इतना अन्तर है तो भी मोरोंकी प्रीति मेघोंमें है, उसे देखकर मोर नाचते हैं। और, बिजली मेघोंके समीप ही है (उसीसे उत्पन्न होती है) पर मेघोंमें उसकी प्रीति स्थिर नहीं रहती। ☞खलकी प्रीति स्थिर नहीं रहती। यह नीति है—[अच्छे लोग (सज्जन) दूर भी रहकर प्रीतिका निर्वाह करते हैं, खलसे प्रीति न करे, सज्जनसे करे यह उपदेश है।]

नोट—१ '*दामिनि दमक रह न*' इति। (क) विष्णुपुराण अंश ५, अ० ६ में श्रीपराशरजीने वर्षावर्णनमें ऐसा ही कहा है। यथा—'**न बबन्धाम्बरे स्थैर्यं विद्युदत्यन्तचञ्चला। मैत्रीव प्रवरं पुंसि दुर्जनेन प्रयोजिता॥**' (४२) अर्थात् अत्यन्त चञ्चला बिजली आकाशमें स्थिर न रह सकी, जैसे श्रेष्ठ पुरुषके साथ दुर्जनकी मित्रता स्थिर नहीं रहती। ☞इस श्लोकसे यह स्पष्ट हो गया कि खलकी प्रीति किसीके साथ स्थिर नहीं रहती। चौपाईमें इसे न कहनेका कारण यह भी हो सकता है कि कविके मतानुसार खलकी प्रीति किसीके भी साथ स्थिर नहीं रहती। श्लोकमें बिजलीका आकाशमें स्थिर न होना कहा और मानसमें मेघोंमें स्थिर न रहना कहा। पाठक देखें कि कौन उत्तम है। मेघोंमें विशेषता यह है कि बिजली मेघोंसे ही उत्पन्न होती है तब भी उनमें स्थिर नहीं रहती। इसी तरह खलोंकी प्रीति अपने माता-पिता, सगे-सम्बन्धियोंमें भी स्थिर नहीं रहती तब दूसरोंमें कब स्थिर रहेगी।

भा० १०। २० में मेघोंमें बिजलीके स्थिर रहनेका वर्णन इस प्रकार है—'**लोकबन्धुषु मेघेषु विद्युतश्चलसौहृदाः। स्थैर्यं न चक्रुः कामिन्यः पुरुषेषु गुणिष्विव॥**' (१७) अर्थात् लोकोपकारी मेघोंमें भी बिजलियाँ स्थिर नहीं रहतीं, जैसे चञ्चल प्रेमवाली कुलटाएँ गुणी पुरुषोंके पास भी नहीं टिकतीं।

मा० म०—(क) भाव यह है कि बिजली सब गुणसिन्धु मेघको पाकर भी खलताहीको सेवती है अर्थात् अस्थिरता नहीं त्यागती, चमककर अन्यत्र चली जाती है, वहाँसे दूसरी-दूसरी जगह चमकने लगती है, केवल एक सुखकी टेक नहीं रखती। (ख) यहाँ यह रूपक भी मिलता है कि पुरुषरूपी मेघ, स्त्रीरूपी दामिनी अपने गुण और रङ्गकी उत्तङ्गतावश चञ्चल होकर आधी चमक एक जगह और आधी चमक दूसरी जगह दिखलाती फिरती है और स्थान-स्थान प्रति किञ्चित् थिर हो-होकर अभङ्ग चमक प्रकाश करती है। यहाँ स्त्रीकी उत्तङ्गता गुण और मेघकी उत्तङ्गता श्याम रङ्ग जानो—(मेघ पुँल्लिङ्ग, दामिनि स्त्रीलिङ्ग, खल पुँल्लिङ्ग, प्रीति स्त्रीलिङ्ग। सम्भवतः इसीसे यह भाव निकाला गया है। पर प्रत्यक्ष तो यहाँ दुष्टोंकी प्रीतिहीका दिखाना अभिप्रेत है—मा० सं०।)

☞वर्षा वर्णनमें मेघ, मोर, दामिनी आदिका वर्णन करना चाहिये, यथा—'*बर्षा हंस पयान बक दादुर चातक मोर। केतक पुंज कदंब जल क्यों दामिनि घन जोर।*' इति (कविप्रिया)

बरषहिं जलद भूमि नियराए। जथा नवहिं बुध बिद्या पाए॥ ३॥
बूँद अघात सहहिं गिरि कैसे। खल के बचन संत सह जैसे॥ ४॥

अर्थ—बादल पृथ्वीके निकट आकर (अर्थात् इतना नीचे झुककर) बरसते हैं, जैसे पण्डित लोग विद्या पाकर नवते (नम्र हो जाते) हैं॥ ३॥* बूँदोंकी चोटें पर्वत कैसे सहते हैं, जैसे खलके वचन सन्त सहते हैं॥ ४॥

---

* हमने प्रथम संस्करणमें मिलानका यह श्लोक दिया था—'ज्यालम्बमाना जलदा वर्षन्ति स्फूर्जिताम्बराः। यथा विद्यामुपालम्ब नमन्ति गुणिनो जनाः।' (विष्णुपुराण) पर इस बार हमने खोज करने पर यह श्लोक वि० पु० में नहीं पाया। परंतु पं० श्रीकान्तशरणजीने भी इसे दिया है अतः मैं उसे दे रहा हूँ।

टिप्पणी—१ '*बरषहिं जलद……। जथा नवहिं……*' इति। उदाहरणमें समता—(क) मेघ आकाशसे उतरकर नीचे आते हैं। विद्या-सम्पन्न होना आकाशमें स्थिर होना है, उसे पाकर विनम्र होना मेघोंका भूमिपर आना है। [जबतक मेघ छूछे थे तबतक ऊँचेपर थे, जब जलसे लदकर बरसनेवाले हुए तब नीचे झुक आये। (पं०)] (ख) मेघ जल बरसाते हैं, इसीसे जलद (जल देनेवाला) नाम है, पण्डित लोग विद्यादान देते हैं। [(ग) मेघ समुद्रसे जल कर्षण करके घूम-घूमकर पृथ्वीपर बरसाता है, वैसे ही पण्डित लोग महापण्डितोंसे विद्या प्राप्त करके घूम-घूमकर शब्दवृष्टि कर विद्यार्थियोंकी बुद्धिरूपी भूमिपर विद्यारूपी जलको बरसाते हैं। (मा० म०)]

'*बुध*' का भाव कि विद्या पाकर 'बुध' ही नवते हैं, 'अबुध' नहीं। यथा—'*अधम जाति मैं बिद्या पाए। भयउ जथा अहि दूध पियाए॥*' (७। १०६। ६) मेघोंका आकाशमें छाना, गरजना, बिजलीका चमकना, मेघोंका पृथ्वीके निकट आना और बरसना ये सब क्रमसे वर्णन किये।

☞[विद्या पाकर बुद्धिमान् विनम्र होते हैं। यथा—'*विद्या ददाति विनयम्।*' यह नीति है। विद्यावान्‌को विनयसम्पन्न होना चाहिये।]

टिप्पणी—२ '*बूँद अघात सहहिं गिरि कैसे।……*' इति। सन्त और पर्वतमें समानता इस प्रकार है—(१) सन्त पर्वत हैं। (२) खलके वचन बूँदें हैं। (३) वचन अनेक, वैसे ही बूँदें अनेक। (४) खलके वचन सहनेमें सन्त गिरिके समान जड़ हैं। (५) इनके हृदयमें वचन प्रवेश नहीं करते, जैसे पाषाणमें पानी प्रवेश नहीं करता—[पर इस समतामें दोष यह आता है कि गिरिका अर्थ पाषाण नहीं है, गिरिमें पाषाण होते हैं। वर्षाका जल पर्वतोंमें प्रवेश करता है; इसीसे तो उसमेंसे ग्रीष्ममें भी झरने बहते हैं। अतएव केवल सहन करनेका सादृश्य लेना चाहिये। (प० प० प्र०) सन्त शरणागतिरूपी वृक्षके नीचे होकर चोटको सहन कर लेते हैं। (मा० म०)] (५) खलके वचन औरोंको वज्रसमान हैं, यथा—'*बचन बज्र जेहि सदा पिआरा।*' (१। ४। ११) वही सन्तोंके निकट पानीके बूँदके समान हैं, कुछ बाधा नहीं कर सकते। [सम्भव है कि कोई कहे कि वृक्ष, पशु, मनुष्य आदि सभी बूँदोंकी चोट सह लेते हैं जिनपर वे पड़ती हैं तब '*गिरि*' का सहना कहनेमें क्या विशेषता है?, तो उसका उत्तर यह है कि वे भी सह लेते अवश्य हैं पर 'आघात' से वेधित होकर वे दुःखित हो जाते हैं; किंतु पर्वतको कुछ पीड़ा नहीं होती है। वैसे ही खलोंके वचनोंसे सबका मन व्यथित हो जाता है, पर सन्तोंका अन्तःकरण इतना निर्मल है कि वह उनके वचनोंसे भी नहीं बिगड़ता। (पाँ०) अतः पर्वतकी उपमा दी।]

[नोट—'सहहिं' पदमें ध्वनि है कि उन्हें बदला देनेका सामर्थ्य है, पर वे जड़की तरह सह लेते हैं, अपने मनमें किञ्चित् विक्षेप नहीं होने देते। यहाँ उपदेश है कि संतको क्षमा चाहिये।]

☞मिलान कीजिये—

'दुर्जन बदन कमान सम बचन विमुञ्चत तीर। सज्जन उर बेधत नहीं छमा सनाह सरीर॥'

'सील गहनि सबकी सहनि कहनि हिये मुख राम। तुलसी रहिए यह रहनि संत जननको काम॥' (वै० सं० १७)

'बचन तून जिह्वा धनुष बचन पवन गम तीर। साधुनके लागै नहीं छमा सनाह सरीर॥'

मयूख—यदि बूँद-आघात पर्वत न सह सके तो उसकी निन्दा हो, वैसे ही सन्त यदि खलकी वाणी सुनकर न सह सकें तो उनके नामको लज्जा है।

टिप्पणी—३ '*सहहिं गिरि*' में ध्वनि यह है कि वर्षाके बूँद हमसे नहीं सहे जाते, पर्वत सहते हैं—(वा, हे लक्ष्मण! वे कैसे सह लेते हैं? हमसे तो नहीं सहे जाते।) तात्पर्य कि विरहीको वर्षा दुःखदायी है, यथा—'*बारिद तप्त तेल जनु बरिसा।*'

मेघ प्रथम पहाड़पर बरसते हैं, इसीसे प्रथम पहाड़पर बरसना लिखा है। यहाँ नीति कही है।

नोट—श्रीशुकदेवजीने भी कुछ ऐसा ही कहा है। यथा—'**गिरयो वर्षधाराभिर्हन्यमाना न विव्यथुः।**

अभिभूयमाना व्यसनैर्यथाऽधोक्षजचेतसः॥' (भा० १०। २०। १५) अर्थात् मूसलधार वर्षाकी चोट खाते रहनेपर भी पर्वतोंको कोई व्यथा नहीं होती थी; जैसे दुःखोंकी भरमार होनेपर उन पुरुषोंको कभी व्यथा नहीं होती जिन्होंने अपना चित्त भगवान्‌को समर्पित कर रखा है।

'*बूँद अघात*' का भाव '**वर्षधाराभिर्हन्यमानाः**' में, '*सहहिं*' का '**न विव्यथुः**' में और '*संत*' का '**अधोक्षजचेतसः**' में आ जाता है; पर भागवतके '**अभिभूयमाना व्यसनैः**' की जगह मानसमें '*खलके बचन*' हैं। यह विशेषता है, क्योंकि दुःखका भार सहना उतना कठिन नहीं है जितना 'खलोंके वचनोंका सहना'।

प० प० प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि श्लोकमें 'व्यसन' शब्द होते हुए भी यहाँ '*खल*' शब्दका प्रयोग बताता है कि श्रीरामजीके मनमें इस समय यह बात आयी कि '*खल*' रावणने न जाने कितने कठोर कुवचन कहे होंगे और सीताजीने (उसको भस्म कर देनेका सामर्थ्य होते हुए भी) उन वचनोंको सहन किया होगा। उस खलका विनाश कब और कैसे होगा!

छुद्र नदी भरि चली तोराई। जस थोरेहु धन खल इतराई॥५॥

शब्दार्थ—**तोराई**=वेगसे। **इतराना**=घमण्ड करना।

अर्थ—छोटी नदियाँ भरकर वेगसे तटभङ्ग करती हुई चलने लगीं, जैसे थोड़ा भी धन पाकर खल गर्वसे मर्यादा त्याग देते हैं॥५॥

टिप्पणी—१ क्षुद्र नदी गम्भीर नहीं है और न पेटकी भारी है, इसीसे थोड़े ही जलसे उभरकर बेमर्यादा चली, और घरों और वृक्षोंको ढहाती, कृषिको डुबाती, मार्ग रोकती, इत्यादि भारी उपद्रव करके सूख जाती है। यही दशा खलकी है। थोड़ा भी धन हुआ कि उसे गर्व हुआ, फिर वह अपनेमें नहीं समाता। उसका धन भी क्षुद्र नदीकी तरह शीघ्र बह जाता है पर जबतक रहता है तबतक वह उपद्रव करता ही रहता है।

टिप्पणी—२ क्षुद्र नदीकी उपमा देनेके भाव—(क) क्षुद्र नदी मूलरहित है और खल भगवद्भक्तिरहित है, इसीसे उसका धन जल्दी नष्ट हो जाता है। यथा—'***रामबिमुख संपति प्रभुताई। जाइ रही पाई बिनु पाई॥ सरितमूल जिन्ह सरितन्ह नाहीं। बरषि गए पुनि तबहिं सुखाहीं॥***' (५। २३। ५-६) [इस नदीमें न तो पहिले ही जल था न पीछे रहेगा, इधरसे आया उधर गया, अन्ततः कणमात्र भी नहीं रह जाता। वैसे ही खलका आदि, अन्तमें पेट जलता ही रहता है, किञ्चित् धन बीचमें हाथ लग गया तो विषय, युद्ध और खेलमें व्यय करता है; इस प्रकार तत्काल ही धनका नाश हो जाता है। (मा० म०)] (ख) खलके मन, वचन, कर्म तीनों नष्ट हैं। मन चञ्चल है, यथा—'***खल कै प्रीति जथा थिर नाहीं।***' प्रीति करना मनका धर्म है। वचन कठोर है, यथा—'***बचन बज्र जेहि सदा पिआरा***', '***खल के बचन संत सह जैसे।***' और कर्म दूषित है, यथा—'***जस थोरेहु धन खल इतराई।***' इतराना कर्म है।

नोट—१ (क) यहाँ क्षुद्र नदी और खल, धन और जल, नदीका शीघ्रतासे (त्वराके साथ) बहने और खलके इतराने एवं धन व्यय कर डालनेसे रूपक है। (ख) खलके पास अन्यायसे ही उपार्जन किया हुआ धन रहता है, इसीसे वह बुरे कर्मोंमें ही लगता है।

नोट—२ भा० १०। २०। १० में इससे मिलता-जुलता श्लोक यह है—'**आसन्नुत्पथवाहिन्यः क्षुद्रनद्योऽनुशुष्यतीः। पुंसो यथाऽस्वतन्त्रस्य देहद्रविणसम्पदः॥**' अर्थात् छोटी-छोटी नदियाँ जो जेठ-आषाढ़में बिलकुल सूखनेपर आ गयी थीं, वे उमड़-उमड़कर अपने घेरे (मर्यादा) से बाहर बहने लगीं, जैसे परतन्त्र अथवा उच्छृङ्खल पुरुषके शरीर और धनसम्पत्तियोंका कुमार्गमें संयोग होने लगता है। मानसके '*क्षुद्र नदी*' की व्याख्या '**क्षुद्रनद्योऽनुशुष्यतीः**' में है, अर्थात् जो सूखनेवाली थीं और आगे फिर शीघ्र सूख जायँगी। '*भरि चली तोराई*' ही '**आसन्नुत्पथवाहिन्यः**' है। '*खल*' की जगह यहाँ '**अस्वतन्त्रपुंसो**' और '*थोरेहु धन*' के बदले '**देहद्रविणसम्पदः।**' है।

वि० पु० में श्रीपराशरजीने वर्षावर्णनमें ऐसा ही कहा है—'**ऊहुरुन्मार्गवाहीनि निम्नगाम्भांसि सर्वतः। मनांसि दुर्विनीतानां प्राप्य लक्ष्मीं नवामिव॥**' (५। ६। ३८) अर्थात् नदियोंका जल अपना निर्दिष्ट मार्ग, अपनी

मर्यादा छोड़कर सब ओर बहने लगा, जैसे दुर्विनीत पुरुषोंका चित्त नया धन पाकर (उच्छृङ्खल हो जाता है)। *'चली तोराई'* में **'ऋहुरुन्मार्गवाहीनि सर्वतः'** का भाव है। 'छुद्र' विशेषण मानसमें अधिक है। *'थोरेहि धन'* में **'प्राप्य लक्ष्मीं नवामिव'** का भाव है अर्थात् पहले तो उसके पास कुछ था नहीं, नया धन कहींसे पा गया जैसे नदीमें जल था नहीं या नहींके बराबर था, वर्षाजल उसको मिल गया। वर्षा थोड़े ही दिन रहती है इसीसे थोड़ा धन कहा। श्लोकके **'मनांसि दुर्विनीतानां'** के बदले यहाँ 'खल' है। वहाँ केवल मनका दूषित होना कहा और उनके मन, कर्म, वचन सभीमें गर्व कहा।

नोट—३ प० प० प्र० स्वामीजीका मत है कि 'यहाँ सुग्रीवकी उदासीनतापर लक्ष्य है कि उसे राज्य पाकर मद हो गया है।' पर मेरी समझमें ऐसा विचार उठना सङ्गत नहीं; ऐसा भाव चतुर्मासाभर मनमें नहीं आ सकता।

☞पहाड़का पानी नदीद्वारा चलाकर अब आगे भूमिके जलका वर्णन करते हैं। यहाँ नीति है।

भूमि परत भा ढाबर पानी। जनु जीवहि माया लपटानी॥ ६॥

अर्थ—पृथ्वीपर पानी पड़ते ही गँदला हो गया। मानो शुद्ध बुद्ध जीवको माया लपट गयी हो॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) *'भूमि परत'* का यह भाव कि पर्वतपर गिरनेसे कम मैला हुआ, जब भूमिपर पड़ा तब बहुत मलिन हो गया। (ख) गिरिकी उपमा साधुसे दी—*'बूँद अघात सहहिं गिरि कैसे। खलके बचन संत सह जैसे॥'*— और भूमिकी उपमा मायासे दी। इसका तात्पर्य यह है कि जब जीव साधु-कुलमें अवतार लेता है तब माया कम लपटाती है, [यथा—'**शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥ अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।''''''पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः। जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते॥**' (गीता ६। ४१—४४) अर्थात् योगभ्रष्ट पुरुष फिर शुद्ध और श्रीमानोंके घरमें अथवा बुद्धिमान् योगियोंके कुलमें जन्म लेता है। पूर्वकृत अभ्यासके द्वारा निस्संदेह वह (उसी योगकी ओर) खींचा जाता है। वह शब्द ब्रह्म (प्रकृति) को लाँघ जाता है।] और जब मायिक जीवोंके यहाँ अवतार लेता है तब माया खूब लपटती है। (ग) *'भूमि परत'* का सम्बन्ध जल और जीव दोनोंमें है। जबतक जल आकाशमें रहा तबतक निर्मल रहा, भूमिपर पड़ते ही रज लपट गयी और वह मलिन हो गया। ऐसे ही जब जीव गर्भमें रहा तब उसको अपने स्वरूपका ज्ञान रहा और वह निर्मल रहा; पर भूमिपर पड़ते ही माया लपट गयी, और वह मलिन हो गया। यहाँ ज्ञान है।

नोट—१ विनयपत्रिका पद १३६ से *'माया लपटानी'* का भाव स्पष्ट हो जाता है। वह यह है—

'जिव जब ते हरि ते बिलगान्यो। तब ते देह गेह निज जान्यो॥
माया बस सरूप बिसरायो। तेहि भ्रम ते दारुन दुख पायो॥

....

तैं निज कर्मडोरि दृढ़ कीन्हीं। अपने करन गाँठि गहि दीन्हीं॥
तेहिते परबस परेउ अभागे। ता फल गर्भबास दुख आगे॥
छंद—आगे अनेक समूह संसृत उदरगति जान्यो सोऊ। सिर हेठ ऊपर चरन संकट बात नहिं पूछै कोऊ॥
सोनित पुरीष जो मूत्र मल कृमि कर्दमावृत सोवही। कोमल सरीर गंभीर वेदन सीस धुनि धुनि रोवही॥
तू निज कर्मजाल जहँ घेरो। श्रीहरि संग तज्यो नहिं तेरो॥
बहु बिधि प्रतिपालन प्रभु कीन्हो। परम कृपालु ज्ञान तोहि दीन्हो॥
छंद—तोहि दियो ज्ञान बिबेक जन्म अनेक की तब सुधि भई। तेहि ईसकी हौं सरन जाकी बिषम माया गुन मई॥
जेहि किये जीव निकाय बस रसहीन दिन दिन अति नई। सो करौ बेगि सँभार श्रीपति बिपति महँ जेहि मति दई॥
पुनि बहु बिधि गलानि जिय मानी। अब जग जाइ भजौं चक्रपानी॥
ऐसेहि करि बिचारि चुप साधी। प्रसव पवन प्रेरेउ अपराधी॥
छंद—प्रेरेउ जो परम प्रचंड मारुत कष्ट नाना तैं सह्यो। सो ज्ञान ध्यान बिराग अनुभव जातनापावक दह्यो॥'

यही बात भगवान् कपिलदेवने मातासे (भागवतमें) कही है।

नोट—२ यहाँ उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है।

मा० म०—भाव कि यद्यपि रज और जल दोनोंमें वास्तविक भेद है, दोनों भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं तथापि रजमें जल इस प्रकार मिला हुआ है कि देखनेमें दोनों समान मालूम होते हैं; दोनोंका पृथक् करना दुस्तर प्रतीत होता है, इसी तरह जीवमें माया ऐसी लपट गयी कि दोनों एकरूपसे हो गये। मायाकी जड़तासे जीव जड़-सा हो गया, वह अपनेको देह ही मानने लगा। इस मलिनताका छूटना बहुत दुस्तर है। यथा—*'जदपि मृषा छूटत कठिनाई। श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई॥ छूट न अधिक अधिक अरुझाई।'* (७। ११७) जब कभी हरिकृपासे सन्त मिलते हैं और जीवपर कृपा करते हैं तब पुनः अपने स्वरूपका उसे ज्ञान होता है और वह शुद्ध हो जाता है।

मयूख—जल पृथ्वीमें गिरनेसे ढाबर हो जाता है, वैसे ही जीव लघुयोनिमें पड़कर भ्रष्ट हो जाता है, जलका तालाबमें गिरना मानो अच्छी योनिमें प्राप्त होकर सत्संगमें रहना है और जो जल गङ्गामें पड़ा वह मानो महाश्रेष्ठ योनि है जैसे जीव उत्तम कुलमें जन्म लेकर मानसमें रत रहे।

अ० दी० च०—पृथ्वी, तालाब और नदीके समान क्रमसे कर्म, ज्ञान और भक्ति हैं। वर्षाके पश्चात् शरद् आते ही तीनों शुद्ध हो जाते हैं। जबतक जल समुद्रसे किरणोंद्वारा आकर्षित होकर आकाशमें रहा तबतक शुद्ध रहा। इसी तरह जीव समुद्ररूपी हरिसे भिन्न होकर जबतक **'अयोनि आकाशवत्'** में रहा तबतक शुद्ध रहा। शरीर धरते ही माया लपट गयी।

जल पृथ्वीमें गिरनेपर रजसे मिलकर गँदला हुआ। वैसे ही कर्म करनेमें मायाका अधिक संसर्ग रहता है। शरद् आनेपर इधर-उधरके जलका आना-जाना बंद हो जानेसे रज नीचे बैठ जाती है, जल शुद्ध हो जाता है। उसी प्रकार कर्मका अन्त होनेपर माया दब जाती है तब जीव शुद्ध-सा देख पड़ता है। पृथ्वीसे तालाबका जल कम गँदला रहता है, वह भी वर्षाके बाद शुद्ध हो जाता है। उसी प्रकार कर्मकी अपेक्षा ज्ञानमें मायाका प्रभाव कम रहता है, वह भी ज्ञानकी अन्तिम दशा सातवीं भूमिकामें जीव शुद्ध देख पड़ता है। तालाबकी अपेक्षा नदीका जल कम गँदला रहता है, बहते जलके कारण रजका प्रभाव कम रहता है। उसी प्रकार भक्तिरूपी नदीमें मायाका प्रभाव कर्म और ज्ञानसे भी कम रहता है। भगवत्-सम्बन्धी कार्योंमें इन्द्रियोंको भोग मिलना जलका बहना है, इससे मायाका प्रभाव कम पड़ता है। फिर जैसे नदी वर्षाके अन्तमें एकदम निर्मल हो जाती है, उसी प्रकार अन्तिम भक्ति प्रेमा-परामें तो जीव ब्रह्मवत् प्रतीत होता है, वह दशा ही अकथनीय है।

प० प० प्र०—सुग्रीवजीको भी 'उपजा ज्ञान' तब उन्होंने कहा था कि *'मन भयो अलोला'* इत्यादि। वे निर्मल हो गये थे। पर यहाँसे नीचे नगरमें जानेपर फिर मलिन हो गये। *'बिषय मोर हरि लीन्हेउ ग्याना'* यह उन्होंने स्वयं कहा है।

समिटि समिटि जल भरहिं तलावा। जिमि सदगुन सज्जन पहिं आवा॥ ७॥

शब्दार्थ—समिटना, सिमटना=दूरतक फैली हुई वस्तुका थोड़े स्थानमें आ जाना, बटुरना, इकट्ठा वा एकत्र होना।

अर्थ—जल सिमिट-सिमिटकर तालाबमें भर रहा है जैसे सद्गुण सज्जनके पास आते हैं॥ ७॥

टिप्पणी—१ (क) पहाड़का जल सिमटकर नदीमें गया और पृथ्वीका जल बटुरकर तालाबमें भर रहा है। (ख) *'समिटि समिटि'* का भाव कि उत्तम गुण सज्जनके हृदयमें क्रमसे आते हैं, एक ही बार सब शास्त्र हृदयमें नहीं भर जाते। (ग) *'आवा'* अर्थात् अनायास आपसे ही आ प्राप्त होते हैं, जैसे जल चारों ओरसे सिमिटकर स्वयं तालाबमें आ-आकर भरता है। तालाबको कुछ प्रयत्न नहीं करना पड़ता। यथा—*'पुन्य पुरुष कहुँ महि सुख छाई॥ जिमि सरिता सागर महुँ जाहीं। जद्यपि ताहि कामना नाहीं॥'* (१। २९४। १-२)

सज्जन अपने गुणोंसे शत्रु, मित्र, उदासीन, पशु, पक्षी, मनुष्य इत्यादि सबको तालाबकी नाई सुख

देते हैं और खल अपने क्षुद्र धनसे क्षुद्र नदियोंकी तरह सबको दुःख ही देते हैं।

पां०—जल कहीं बरसे, पर सब जगहसे एकत्रित होकर तालाबमें जाता है जो उसका पात्र है। वैसे ही सद्गुणको कोई कहे सुने, पर वह सज्जनके ही पास जाता है।

करु०—देव बूँद-बूँद वर्षते हैं। उससे तालाब भरते हैं। वैसे ही एक-एक, दो-दो गुण जो दूसरोंमें मिलते हैं उनसे सज्जन सद्गुणसिंधु हो जाते हैं; जैसे दत्तात्रेयभगवान् २४ प्राणियोंसे गुण प्राप्त करके परमहंस हो गये।—(कथा भागवतमें है।)

मा० म०—ऊँची जमीनपर पानी टिकता नहीं, इसीसे वह बहकर तालाबको भर देता है। सद्गुण कहीं एक, कहीं दो रह जाता है; पर अवगुण समाजमें नहीं ठहरता। इसीसे सन्तसमाजमें जाकर सब सद्गुण शोभा पाते हैं।

नोट—१ ऋग्वेदमण्डल ६ सूक्त २४ मन्त्र ६ इस चौपाईसे मिलता-जुलता है। वह यह है—'**वि त्विदापो न पर्वतस्य पृष्ठादुक्थेभिरिन्द्रानयन्त यज्ञैः। तं त्वाभिः सुष्टुतिभिर्वाजयन्त आर्जि न जग्मुर्गिर्वाहो अश्वाः॥**'

वेदान्तभूषण पं० रामकुमारदासजी बताते हैं कि सामवेदमें भी यह मन्त्र कुछ पाठ फेरसे है। वह यह है—'**वि त्वदापो न पर्वतस्य पृष्ठादुक्थेभिरग्ने जनयन्त देवाः। तं त्वा गिरः सुष्टुतयो वाजयन्त्याजिं न गिर्ववाहो जिग्युरश्वाः॥**' (सामवेद पूर्वार्चिक आग्नेयकाण्ड अध्याय १ खण्ड ७ मन्त्र ६) अर्थ—(अग्ने!) हे परमैश्वर्यसम्पन्न परमात्मन्! (**त्वत्**) आपके (**उक्थेभिः**) स्तोत्रोंसे (**पर्वतस्य पृष्ठतः**) पहाड़परसे (आपः) जल (न) के समान (**देवाः**) ज्ञानीभक्त लोग (**वि**) विशेष रूपसे मोक्ष किंवा अन्य फल (**जनयन्त**) प्राप्त करते हैं, और (**गिर्ववाह!**) हे स्तुतिमात्रसे प्रसन्न होनेवाले परमेश्वर! (**त्वम् त्वा**) ऐसे आपको आपके भक्तगण (**सुष्टुतयः**) परमोत्तम सुन्दर (**गिरः**) स्तुतियोंके द्वारा ही आपको (**वाजयन्ति**) बलयुक्त करते अर्थात् जीतते हैं। (न) जैसे (**अश्वाः**) घोड़ा (**आजिम्**) युद्धको (**जिग्युः**) जीत लेता है अर्थात् वीर उत्तम घोड़ेसे जैसे युद्ध जीतता है ऐसे भक्तगण उत्तम स्तुतियोंसे परमात्माको वशमें कर लेते हैं। साम और ऋग्वेदमें पाठभेदका कारण मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंकी विभिन्नता है। भावार्थ दोनोंका एक है।

प० प० प्र०—इस अर्धालीमें *'मुकुति निरादर भगति लुभाने'* वाले भगवद्भक्तोंको ध्वनित किया। वे वैकुण्ठ साकेत आदि शाश्वत प्रेमरसपूर्ण तालाबोंमें जाकर रहते हैं।

सरिताजल जलनिधि महुँ जाई। होइ अचल जिमि जिव हरि पाई॥ ८॥

अर्थ—नदीका जल समुद्रमें जाकर अचल (स्थिर) हो जाता है, जैसे जीव हरिको पाकर अचल हो जाता है॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) जो जल तालाबोंमें नहीं गया वह आकर नदीमें मिला। तब समुद्रमें नदीका मिलान कहा। (ख) सरिताका प्रसङ्ग—*'क्षुद्र नदी भरि चली तोराई'* पर छोड़कर बीचमें भूमि और तालाबके जलका वर्णन करने लगे थे, अब पुनः नदीके जलका प्रसङ्ग उठाते हैं—*'सरिता जल……।'* (ग) *'सरिता'* नाम दिया क्योंकि उसका अर्थ है 'बहा हुआ, बहता हुआ अर्थात् चल।'—'**सरति गच्छति इति सरित्।**' आगे उसका अचल होना कहनेके सम्बन्धसे यहाँ 'चल' अर्थसूचक नाम दिया। सरिताजलकी तरह जीव भी चल है, यथा—*'आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥ फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥'* (७। ४४। ४-५) (घ) *'जलनिधि'* का भाव कि जलका अधिष्ठान समुद्र है, इसी तरह समस्त जीवोंका अधिष्ठान ईश्वर है।

टिप्पणी—२ *'होइ अचल जिमि जिव हरि पाई'* इति। (क) यहाँ 'हरि' नाम जीवके क्लेशहरण करनेके सम्बन्धसे दिया। भगवत्प्राप्ति होनेसे जीवका क्लेश दूर होता है। (ख) बड़ी नदीमें बहुत-से नदी-नद आकर बीचमें मिले, पर उसका जल अचल न हुआ; क्योंकि वे सब तो आप ही बह रहे हैं तब दूसरेको अचल कैसे कर सकते हैं? इसी तरह अनेक देवी-देवताओंकी उपासना करनेसे जीवका भवप्रवाह नहीं

मिटता; क्योंकि देवता तो आप ही भवप्रवाहमें पड़े हुए हैं। यथा—*'भव प्रवाह संतत हम परे। अब प्रभु पाहि सरन अनुसरे॥'* (६। १०९। १२) (देवविनती) (ग) जल समुद्रसे सूर्यकिरणोंद्वारा पृथक् होकर मेघरूप धारणकर वर्षाद्वारा नदीमें आया और उसके द्वारा पुनः समुद्रमें मिलकर स्थिर हुआ। इसी प्रकार जीव (मायाके योगसे) हरिसे पृथक् हुआ और सत्सङ्गद्वारा पुनः हरिको पाकर जन्म-मरणसे रहित होता है। [मा० म०—जो जल नदीमें नहीं पड़ा वह जहाँ-तहाँ रह गया, वैसे ही जो जीव हरिके भेजे हुए महात्माओंकी शरण नहीं गये वे भवप्रवाहमें पड़े रहे। जो गये वे उनके द्वारा हरिको प्राप्त कर दुःखसे छूट गये।—*'रामसरूपसिंधु समुहानी।'*] (घ)—*'हरि पाई'* का भाव कि उसको कहीं जाना नहीं पड़ता, ईश्वर अपने हृदयमें विराजमान हैं। ☞यहाँ ज्ञान है।

नोट—१ मुण्डकोपनिषद्में ब्रह्मप्राप्तिमें इसी प्रकारकी श्रुति यह है—**'यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥'** (३। ३। ८) अर्थात् जिस प्रकार निरन्तर बहती हुई नदियाँ अपने नाम-रूपको त्यागकर समुद्रमें अस्त हो जाती हैं, उसी प्रकार विद्वान् लोग नामरूपादिसे मुक्त होकर परात्पर दिव्य पुरुषको प्राप्त हो जाते हैं।

परात्पर ब्रह्मकी प्राप्ति होनेपर फिर जीवका आवागमन नहीं होता, उसका अनेक योनियोंमें भ्रमण करना बन्द हो जाता है। **'यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः।'** (गीता १५। ४) (जहाँ पहुँचे हुए फिर वापस नहीं लौटते।) यही भाव *'होई अचल'* का है।

सरिताजल समुद्रमें जाकर अचल होता है, इसकी विशेष बातसे समता देना कि जैसे हरिको पाकर जीव अचल हो जाता है, 'उदाहरण अलङ्कार' है।

प० प० प्र०—इसमें अपरोक्ष साक्षात्कार होनेपर विदेह कैवल्यमुक्ति पानेवाले ज्ञानी महात्माओंको ध्वनित किया है। **'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।'**

श्रीनंगे परमहंसजी—बहुधा महाशय लोग इस चौपाईको जीव ब्रह्मकी तद्रूपतामें उदाहरण दिया करते हैं और कहते हैं कि जैसे सरिताओंका जल समुद्रमें जाकर समुद्रजलवत् हो जाता है वैसे ही जीव ब्रह्मको प्राप्त होकर ब्रह्मस्वरूप हो जाता है; किंतु इस चौपाईका उदाहरण जीव-ब्रह्मकी तद्रूपतामें देना अयोग्य है; क्योंकि मूलमें 'अचल' शब्द है जिसका भाव यह है कि जीव चलसे अचल हो जाता है अर्थात् उसका जन्म-मरण छूट जाता है। वैसे ही नदीका जल जो चल था अर्थात् बहता था वह स्थिर हो जाता है।

दो०—हरित भूमि तृन संकुल समुझि परहिं नहिं पंथ।
जिमि पाषंड बाद तें गुप्त होहिं सदग्रन्थ॥ १४॥

शब्दार्थ—**संकुल**=संकीर्ण, भरी हुई, परिपूर्ण।=समूह। **बाद** (वाद)=तर्क-वितर्क, अन्यार्थिका युक्तियाँ।

अर्थ—घाससे परिपूर्ण पृथ्वी हरी हो गयी है (इसीसे) मार्ग नहीं समझ पड़ता। जैसे पाखण्ड-विवादसे उत्तम ग्रन्थ गुप्त हो जाते हैं॥ १४॥

टिप्पणी—१ (क) भूमिपर वर्षाका होना कहा, यथा—*'भूमि परत भा ढाबर पानी'*; अब भूमिके जलका कार्य कहते हैं कि *'हरित भूमि तृन संकुल……।'* (ख) *'पाषंड बाद'*, यथा—*'साखी सब्दी दोहरा कहि कहनी उपखान। भगति निरूपहिं कलिभगत निंदहिं बेद पुरान॥'* (दो० ५५४) पाखण्डवाद कोई मार्ग नहीं है, किन्तु तृन-समान मार्गका भ्रम करनेवाला है। घासके काटनेसे मार्ग खुल जाता है, इसी प्रकार पाखण्डवादके खण्डनसे वेदमार्ग खुल जाता है।

गोस्वामीजीने वर्षा और शरद् दो ऋतुओंका वर्णन किया है। प्रत्येक ऋतुमें दो मास होते हैं। श्रावण और भाद्रपद वर्षाके महीने हैं, आश्विन और कार्तिक शरद्के दोनों मास हैं। गोस्वामीजीने एक-एक दोहेमें एक-एक मासका वर्णन किया है। इस दोहेमें यहाँतक श्रावणका वर्णन करके अगले दोहेमें भादोंका वर्णन करते हैं। यहाँ नीति और ज्ञान है।

नोट—१ इस दोहेके भाव निम्न श्लोकोंसे मिलते हैं। श्लोकोंका भावार्थ यह है कि मार्ग तृणसे आच्छादित हो जानेसे संदिग्ध हो गये हैं, यह नहीं जान पड़ता कि किस मार्गसे किधरको जायँ, कौन मार्ग किस स्थानका है एवं मार्ग कहाँपर है, संदेह होनेसे किसी ओर जा नहीं सकते, चलना बंद हो गया। जैसे बहुत काल हो जानेसे वा कलिकालके प्रभावसे ब्राह्मणोंसे न अभ्यस्त की हुई श्रुतियाँ नष्ट-भ्रष्ट हो जाती हैं अर्थात् अभ्यास न होनेसे विस्मृत हो गयीं वा पाखण्ड-विवाद बढ़ गया है इससे संदेह उत्पन्न हो जाता है कि कौन मानी जायँ कौन न मानी जायँ। ठीक वेदमार्ग क्या है यह समझ नहीं पड़ता। गोस्वामीजी *'गुप्त होहिं'* लिखते हैं। भाव कि वैराग्यज्ञान सद्‌मार्गवाले ग्रन्थोंका ही पता न रह गया, पाखण्डी लोग ग्रन्थ रच-रचकर उन्हींको सद्‌ग्रन्थ बताने लगे जिससे भ्रम हो गया कि वस्तुतः कौन सद्‌ग्रन्थ है कौन नहीं।

मिलानके श्लोक—**'मार्गा बभूवुः संदिग्धास्तृणैश्छन्ना ह्यसंस्कृताः। नाभ्यस्यमानाः श्रुतयो द्विजैः कालहता इव॥'** (भा० १०। २०। १६), **'जलौघैर्निरभिद्यन्त सेतवो वर्षतीश्वरे। पाखण्डिनामसद्वादैर्वेदमार्गाः कलौ यथा॥'** (१०। २०। २३) अर्थात् सारे मार्ग वर्षाकालके कारण पहिचाने नहीं जाते, लम्बी-लम्बी घास रास्तोंमें खड़ी हो गयी, जिस तरह कालक्रमके कारण श्रुतियाँ द्विजोंसे अभ्यास न किये जानेके कारण संदिग्ध हो गयी हैं। इन्द्रदेवकी प्रेरणासे मूसलाधार वर्षा होनेके कारण सेतु बाँध आदि टूट गये, जैसे कलियुगमें पाखण्डियोंके तरह-तरहके मतवादोंसे वैदिक मर्यादा टूट जाती है।

वि० पु० में श्रीपराशरजीने इसका उल्लेख इस प्रकार किया है—**'मार्गा बभूवुरस्पष्टास्तृणशष्पचयावृताः। अर्थान्तरमनुप्राप्ताः प्रजडानामिवोक्तयः॥'** (५। ६। ४३) अर्थात् महामूर्ख मनुष्योंकी अन्यार्थिका उक्तियोंके समान मार्ग तृण और दूबसमूहसे आच्छादित होकर अस्पष्ट हो गये।—इसके अनुसार 'पाखण्डवाद' से पाखण्डियोंकी 'अन्यार्थिका उक्तियाँ' अभिप्रेत हैं।

प० प० प्र०—***पाखंड बाद***=पाखण्डयुक्त वाद। **'पालनाच्च त्रयीधर्मः पा शब्देन निगद्यते। तं खण्डयन्ति ते यस्मात्पाखण्डास्तेन हेतुना॥'** (अमरव्याख्या सुधा) ***पा*** (=सबका पालन करनेवाला त्रयी (वेद) धर्म) + खंड (खण्डन करनेवाले)=पाखण्ड। अतः वेदधर्मके खण्डन करनेवालोंके वचन ही 'पाखण्डवाद' हैं।

प० प० प्र०— *'होइ अचल जिमि जिव हरि पाई'* के पश्चात् *'जिमि पाखंड बाद……'* यह सिद्धान्त कहनेमें भाव यह है कि प्रेमलक्षणा भक्तिकी प्राप्तिसे वैकुण्ठादि लोकोंकी अथवा कैवल्य मोक्षकी प्राप्ति वेदधर्म-विरुद्ध व्यवहार करनेसे नहीं होगी। कारण कि पाखण्डवादसे समझ ही न पड़ेगा कि क्या हितकर है और क्या अहितकर। वेदधर्मका यथार्थ पालन करनेसे ही परमार्थ और परमपरमार्थका लाभ होगा, अन्यथा नहीं।

दादुर धुनि चहुँ दिसा सुहाई। बेद पढ़हिं जन बटु समुदाई॥ १॥
नव पल्लव भये बिटप अनेका। साधक मन जस मिले बिबेका॥ २॥

अर्थ—चारों दिशाओंमें मेढकोंकी सुहावनी ध्वनि ऐसी भली लगती है मानो ब्रह्मचारियोंके समुदाय (समूह, वृन्द, झुण्ड) वेद पढ़ रहे हैं॥ १॥ अनेक (प्रकारके) वृक्ष नवीन पत्तोंसे युक्त हो गये, जैसे साधन करनेवालेके मनमें विवेक प्राप्त हो जाय॥ २॥

* दादुर-ध्वनि और वेद-ध्वनिकी समता *

पं० रामकुमारजी—१ (क) दादुरध्वनिको वेदध्वनिकी उपमा दी; क्योंकि दोनोंकी ध्वनि समान होती है। (ख)—दादुरकी ध्वनिको वेदध्वनिकी उपमा दी, वेदध्वनि सुहावनी होती है इसीसे उसको भी *'सुहाई'* विशेषण दिया। (ग)—जहाँ रघुनाथजी बैठे हैं वहाँ चारों ओरसे दादुर-ध्वनि सुन पड़ती है, दादुर चारों ओर जलाशयोंके निकट बोल रहे हैं। और ब्राह्मण भी ग्रामके चारों ओर जलाशयोंके निकट बैठकर श्रावणी किया करते हैं अर्थात् वेद पढ़ते हैं। (घ) दादुरकी बोली सुहावनी लगती है, पर समझमें नहीं आती और वेदपाठ सबको सुहावन लगता है, पर सर्वसाधारणके समझमें नहीं आता।

मा० म०—मेघके गर्जनको सुनकर दादुर बोलते है वैसे ही पूर्ण वैदिक (वेदज्ञाता) के वाक्य (आह्वान) सुनकर बटुगण जोरसे वेद घोषने लगते हैं।—(यह भाव आगे दिये हुए मिलानके श्लोक ९ के अनुसार कहा गया है।) यहाँ घन और वैदिक, बटुगण और दादुरवृन्द, नभ और ऊँचा स्थान, गरजना और पढ़ाना, शब्द करना और पढ़ना और ध्वन्यात्मक और स्वरहीन शब्दके उच्चारणसे एक रूपक है। यहाँ उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा है।

टिप्पणी—१ *'बेद पढ़हिं जनु बटु समुदाई'* इति। (क) सामवेदियोंकी श्रावणी भादोंमें होती है,—**'मासि प्रौष्ठपदे ब्रह्म ब्राह्मणानां विवक्षताम्। अयमध्यायसमयः सामगानामुपस्थितः॥'** (वाल्मी० २८। ५४) अर्थात् भादोंके महीनेमें वेद पढ़नेवाले सामवेदी ब्राह्मणोंके लिये यह अध्यायका समय है, अर्थात् उपाकरणकाल है। सामवेदका प्रारम्भ भादों मासमें होता है।—इसीसे भादोंवाले दोहेमें वेदका पढ़ना लिखते है। दोहा १५ की प्रथम चौपाईमें इसे लिखकर इस दोहेभरमें भादोंका वर्णन जनाया। ☞यहाँ भक्ति ज्ञान है।

वि० त्रि०—यहाँ पावसका वर्णन दो दोहेमें है। पहिलेमें सावनका वर्णन और दूसरेमें भाद्रपदका वर्णन है। अतः *'दादुर धुनि चहुँ दिसा सोहाई'* वर्णन सावनमें ही होना चाहिये, उसका वर्णन भाद्रपदके दोहेमें क्यों हो रहा है ? ऐसी शंका की जा सकती है—उत्तर यह कि *'दादुर धुनि'* तो दोनों महीनोंमें होती है, पर बटु-समुदाय सामवेदकी ध्वनि सावनकी तीजको करते हैं, क्योंकि सामवेदियोंकी श्रावणी उसी दिन पड़ती है। जिस भाँति दादुरगण तालाबके किनारे बैठे-बैठे ध्वनि करते हैं, उसी भाँति तालाबके किनारे तीजके दिन बटु-समुदाय श्रावणी करते हुए सामध्वनि करते हैं, स्वरगानका अर्थ नहीं होता, इसीसे उसकी उपमा दादुर-ध्वनिसे दी, क्योंकि उसका भी कोई अर्थ नहीं होता।

प० प० प्र०—इस चौपाईमें बताया है कि—(१) ब्रह्मचर्याश्रममें वेदपठन करना चाहिये और उपलक्षणासे सूचित किया कि वेदोक्त वर्णाश्रम धर्मोंका पालन बालपनेसे ही यथाधिकार करना चाहिये। (२) वेदोंका अर्थ न जाननेपर भी केवल पठनसे ही लाभ होगा। (३) इस प्रकार वर्णाश्रम धर्मका पालन करनेसे अन्तमें पूर्ण प्रसन्नता प्राप्त होगी। यथा—**'प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते। प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥'** (गीता २। ६५)

* विटप और साधकमें समता *

१ वृक्ष ग्रीष्म-तापसे तपे तब वर्षामें नवपल्लवयुक्त हुए।······	साधक अष्टाङ्गयोगसाधनमें प्रथम क्लेश सहते हैं तब उनको विवेक मिलता है।
२ वृक्ष जड़ और अचल·····	साधक क्लेश सहनेमें वृक्षवत् जड़ और अचल।
३ वृक्षमें पल्लव फूट आये····	साधकके मनमें विवेक आ गया, किसीको सिखाना न पड़ा।
४ नवपल्लवका कारण वर्षा	ज्ञानका कारण साधन।

५ मा० म०—साधकका तन वृक्ष; साधन ग्रीष्मऋतु; साधकका श्रम, ग्रीष्मका तीक्ष्णघाम; मोहराजसमाज (काम-क्रोधादि) पत्ते; साधनसे कामादिका अन्तःकरणसे दूर होना पत्तोंका झड़ वा सूख जाना; साधनफलरूपी विवेक (इसीके लिये साधन किया था) पावसजल; साधक दुर्बलसे हृष्ट-पुष्ट और वृक्षके पत्ते हरे-भरे—इस प्रकार इनका एक रूपक है।

अ० दी० (प्रश्न)—'साधकके तनरूपी वृक्षसे पत्तोंका झड़ना कहा और अब पत्तोंका भरना मनमें कहते हैं, यह क्यों ?'

उत्तर—'पत्ता ऊपरसे गिर गया; पर उसकी जड़ भीतर बनी हुई थी उसीसे फिर पत्ता निकला। इसी प्रकार अष्टाङ्गयोग साधनसे मोहसमाजरूपी ऊपरके पत्ते गिर गये। परंतु उसकी जड़ भीतर बनी हुई है। अर्थात् मनहीमें विवेक और अविवेक दोनों प्रकट होते हैं, अविवेकके स्थान मनमें विवेक प्राप्त होनेसे ऊपर हरे-हरे नये पत्तेके सदृश साधकके तनसे सब उत्तम साधन होने लगे।'

नोट—१ ☞ यहाँ ज्ञान कथन हुआ। समानार्थक श्लोक ये हैं—**'श्रुत्वा पर्जन्यनिनदं मण्डूका व्यसृजन्**

गिरः। तूष्णीं शयानाः प्राग्यद्वद्ब्राह्मणा नियमात्यये॥ पीत्वापः पादपाः पद्भिरासन्ना नात्ममूर्तयः। प्राक्क्षामाः तपसा श्रान्ता यथा कामानुसेवया॥' (भा० १०। २०। ९, २१) अर्थात् प्रथम मौन बैठे हुए मेढक मेघोंका शब्द सुनकर बोलने लगे जैसे प्रथम चुपचाप बैठे हुए ब्राह्मण विद्यार्थी नित्य नियम समाप्त होनेपर गुरुका आह्वान सुनकर वाणी उच्चारण करने लगते हैं। ग्रीष्मसे तप्त होकर वृक्ष सूख गये थे, वे जड़ोंद्वारा जल पानकर नये पत्र-पुष्पादिसे अनेक देहरूपवाले हो गये, जैसे तपस्या करनेसे पूर्व दुर्बल इन्द्रियोंसे शिथिल हुए साधक मनोकामनाकी प्राप्तिसे स्थूल देहवाले हो जाते हैं।

वेदान्तभूषणजी—वेदध्वनिको बालकाण्डमें पक्षियोंके कलरवकी उपमा दी गयी है—'*भवन बेद धुनि अति मृदु बानी। जनु खग मुखर समय जनु सानी॥*' (१। १९५। ७) और यहाँ उसीकी तुलना '*दादुर धुनि*' के साथ की गयी है। ऐसी विषमता क्यों ?

समाधान—ऋग्वेदके परिशिष्टान्तमें वेदपाठकी आठ विकृतियाँ बतायी गयी हैं—'**जटा माला शिखा रेखा ध्वजो दण्डो रथो घनः। अष्टौ विकृतयः प्रोक्ताः क्रमपूर्वा महर्षिभिः॥**' इनके और भी सात अवान्तर भेद हैं। पण्डितगण जब अपने आश्रयदाताके यहाँ मङ्गल अवसरोंपर वेदध्वनि करते हैं उस समयके लिये ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है कि सब उपस्थित विद्वान् एक स्वर में स्वर मिलाकर वेदध्वनि करें। जो जिस शाखाका पण्डित तथा जिस विकृतिका पूर्ण अभ्यस्त होता है वह उस शाखाके तात्कालिक माङ्गलिक मन्त्रोंको यथावसर स्व-अभ्यस्त ध्वनिमें उच्चारण करता है। उस समय सभी विद्वानोंका विभिन्न शब्द इस तरह एकमें सन उठता है कि अलगसे सुननेवालोंको शब्द कलरवके अतिरिक्त और कुछ नहीं मालूम पड़ता। न तो उस समय शब्दविन्यास अलग किया जा सकता है और न स्वर-प्रभेद ही। अतएव श्रीरामजन्मोत्सवके आनन्दमें श्रीदशरथजी महाराजके अजिरमें अनेक विद्वानोंकी जो अलग-अलग १५ प्रकारसे एक साथ ही वेदध्वनि हो रही है उसको प्रातः-सायंकालमें एक स्थानमें एकत्रित हुए अनेकानेक पक्षियोंके फुदुक-फुदुककर कलरव करनेके समान कहा गया।

बटु—विद्यार्थी। जब अध्यापक बटु-समुदायको वेदाध्ययन कराता है तब प्रत्येक श्रेणीके विद्यार्थीको अलग-अलग पाठ दिया जाता है। उस समय प्रथम तो अध्यापक स्वयं उच्चारण करके बताता है, पश्चात् सभी छात्र बटु एक स्वरसे उसी ध्वनिमें उसकी असकृदावृत्ति करते हैं। वेदोंमें इसी कारण अध्ययनकालीन वेदके विद्यार्थियों एवं उनके अध्यापकोंकी ध्वनि एवं शैली आदिकी बरसाती मण्डूकोंकी ध्वनिसे तुलना की गयी है। दो एक मन्त्र यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

(क) '**सम्वत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः। वाचं पर्जन्य जिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः।**' (ऋग्वेद ७। १०३। १, अथर्व ४। १५। १३, नि० ९। ६) भावार्थ यह है कि व्रताचरण करनेवाले ब्राह्मण एक वर्षतक चलनेवाले सत्रमें व्रतस्थ होकर मौन धारण करके सोये हुए-के समान चुपचाप रहते हैं। वर्ष-समाप्तिके पश्चात् वैदिक स्तोत्र वैष्णवी सूक्तोंका पाठ करने लगते हैं। इसी प्रकार मेढक अपने-अपने स्थानोंमें वर्षभर चुपचाप रहते हैं और वृष्टिके प्रारम्भ होते ही मेघोंको प्रसन्न करनेवाली वाणी बोलने लगते हैं।

(ख) '**दिव्या आपो अभिपदेनमापन् दृतिं न शुष्कं सरसी शयानम् गवामह न मायुर्वत्सिनीनां मण्डूकानां वाग्नुरत्रा समेति।**' (ऋग्० ७। १०३। २)

(ग) '**यदेषामन्यो अन्यस्य वाचं शाक्तस्येव वदति शिक्षमाणः। सर्वं तदेषां समृधेव पर्व यत् सुवाचो वदथ नाध्यप्सु॥**' (ऋग्० ७। १०३। ५)—भावार्थ यह है कि वर्षा होनेपर मेढक आनन्दमग्न होकर एक दूसरेके साथ मिलकर शब्द करते हुए ऐसे जान पड़ते हैं कि गुरुदेव वेदमन्त्र कहता है और शिष्यगण गुरुकथित उस ऋचाको बारम्बार रट रहे हैं।

(घ) '**गोमायुरेको अजमायुरेकः पृश्निरेको हरित एक एषाम्। समानं नाम बिभ्रतो विरूपाः पुरुत्रा वाचं पिपिशुर्वदन्तः॥**' (ऋग्० ७। १०३। ६)—इस मन्त्रमें बताया है कि मेढक विभिन्न रंगोंके और भिन्न-भिन्न

शब्द करनेवाले होते हैं, पर नाम सबका एक है। (वेदपाठकी अष्ट विकृतियाँ ऐसे ही मेढकोंके विभिन्न स्वर प्रतीत होते हैं।)

मध्य प्रावृट्कालमें श्रावणी उपाकर्मके समय बटुओंकी वेदवेदाङ्ग ध्वनियाँ होती है। दादुर और बटु दोनोंकी तुलना उपर्युक्त वेदमन्त्रोंमें देखी जा चुकी है। और '**जाकी सहज स्वास श्रुति चारी**', '**यस्य वै निःश्वसिता वेदाः।**' साक्षात् ब्रह्म श्रीरामजी किष्किन्धामें अपनी वेद-वाणीको दुहरा रहे हैं (श्रीरामचरितमानसकार तो उनके कथनका अनुवादमात्र कर रहे हैं), इसीलिये यह कथन ब्रह्मवाक्य वेदमें विस्तारसे मिलता है। जिन्होंने वेदार्थ नहीं पढ़ा है वे ही ध्वनिको निरर्थक कहनेका दुःसाहस करते हैं।

'मण्डूककी उपमा क्यों दी गयी ?' '**मण्डयति भूषयति जलाशयमिति मडि**' (**शलि मण्डिभ्यामूकण्।**) (उणादि ४। ४२) 'सुन्दररूपसे भूषित करना' अर्थवाली धातु '***मण्ड***' से उकण् प्रत्यय लगाकर '***मण्डूक***' शब्द बनता है। मण्डूक=सुभूषित करनेवाला। मण्डूकसे तालाबोंकी शोभा है और वेदज्ञ ब्राह्मण सभाको भूषित करता है। इसीसे श्रुतिने मण्डूकके लिये ब्राह्मणकी उपमा दी।

अर्क जवास पात बिनु भयऊ। जस सुराज खल उद्यम गयऊ॥ ३॥
खोजत कतहुँ मिलइ नहिं धूरी। करइ क्रोध जिमि धरमहि दूरी॥ ४॥

अर्थ—मदार और जवासा बिना पत्तेके हो गये जैसे सुन्दर राज्य एवं स्वराज्यमें खलका उद्यम (व्यापार, धन्धा) जाता रहा॥ ३॥ धूल कहीं ढूँढ़नेसे नहीं मिलती, जैसे क्रोध धर्मको दूर कर देता है (क्रोध करनेसे धर्मका पता भी नहीं रह जाता)॥ ४॥*

* 'जस सुराज खल उद्यम गयऊ' इति *

नोट—१ (क) ग्रीष्म ऋतुमें जब कि अन्य पौधे बिना पत्तेके हो गये तब अर्क और जवासमें पत्ते बने रहे और वर्षा ऋतुमें जब सब वृक्ष पल्लवयुक्त हुए तब ये दोनों पल्लवहीन हुए। इसी तरह कुराज्य (वा, परतन्त्रराज्य) में जब सब लोग दुःखी होते हैं तब खल सुखी होते हैं और सुराज्य वा स्वराज्यमें जब सब सुखी रहते हैं तब खल दुःखी होते हैं। यहाँ ग्रीष्म कुराज और वर्षा सुराज है। [पर '***पुनि ममता जवास बहुताई। पलुहइ नारि सिसिर रितु पाई॥***' के अनुसार यहाँ ग्रीष्मकी जगह शिशिर चाहिये। (प० प० प्र०) मेरी समझमें ग्रीष्म भी ठीक है। ग्रीष्ममें उसके पत्ते झड़ते नहीं; वर्षामें नहीं रह जाते, फिर शिशिरमें वह पुनः पल्लवयुक्त हो जाते हैं।] (ख) मदारके पत्ते बड़े होते हैं और जवासके छोटे। यहाँ दोनोंको एक खलकी उपमा देकर जनाया कि खलके छोटे-बड़े सभी उद्यम नष्ट हो जाते हैं। पुनः (ग)—'***पात बिनु भयऊ***' पद देकर यह समता दिखायी कि जैसे मदार और जवास वर्षामें बने रहते हैं केवल पत्रहीन हो जाते हैं, वैसे ही सुराज्यमें खल बने रहते हैं पर उनका उद्यम नहीं रह जाता। पुनः, (घ)—सब वृक्ष साधु हैं, अर्क और जवास खल हैं। अर्क और जवासके नाम दिये, पर अन्य वृक्षोंके नाम नहीं दिये। कारण यह कि पल्लवयुक्त वृक्ष बहुत हैं उनको कहाँतक गिनाते, इससे उनको 'अनेक' कह दिया, यथा—'***नव पल्लव भए बिटप अनेका।***' और जो पल्लवरहित हुए वे दो ही हैं, जो प्रसिद्ध हैं, अतः इनके नाम दे दिये। (यहाँ 'तृतीय उल्लास' है।)†

---

* मा० म०—१ अर्क अर्थात् सूर्यके आठवें नक्षत्र पुष्यगत होनेसे जवासा जल गया। खल उद्यम पत्ते हैं जो जल गये। पुनः शिशिररूपी कुराज्यमें प्रकट होते हैं। अथवा अकवन और हिन्गुआ दोनों पावसमें नाश हो गये। जैसे भूपरूपी मेघके नीतिरूपी जलसे खलरूपी जवास पत्रहीन हो जाते हैं।

†यथा विष्णुपुराण—बभूवुर्निश्छदा वृक्षा अर्कयावासकास्तथा। सुराज्ये तु यथा राजन् न चलन्ति खलोद्यमाः॥' अर्थात्—सब वृक्ष, आकड़ा और जवासा वगैरह पत्तोंसे रहित हो गये। जिस प्रकार सुराज्यमें खल पुरुष उद्यमरहित हो जाते हैं। ☞ यह श्लोक प्र० सं० में दिया गया था, पर यह वि० पु० में नहीं है, पं० श्रीकान्तशरणने इसे भी नकल कर दिया है। इसीसे इस संस्करणमें बना रहने दिया गया।

नोट—२ सुराज्यमें प्रायः सब सज्जन ही होते हैं। *'यथा राजा तथा प्रजा'* प्रसिद्ध ही है । वहाँ जो दो एक दुष्टात्मा होते हैं उन्हें सब जान लेते हैं; वे नक्कू हो जाते हैं, इसीसे उनका पुरुषार्थ नहीं चल सकता। सब उनको जानते हैं, अतः कविने उनका नाम दिया।

टिप्पणी—१ *'करइ क्रोध जिमि धर्महि दूरी'* इति।—भाव कि वेद-पुराणमें ढूँढो कि क्रोध करनेसे धर्म रहता है तो कहीं न मिलेगा।

टिप्पणी—२—धर्मको धूरि कहनेका भाव कि—(क) जैसे धूरि सूक्ष्म वैसे ही धर्मकी गति बड़ी सूक्ष्म होती है। (ख) धूरि बहुत वैसे ही धर्म बहुत। (ग) वर्षा होनेसे धूरिका नाश और क्रोध होनेसे धर्मका नाश है। (घ) जहाँ पानी नहीं पड़ता वहाँ धूलि है, जहाँ क्रोध नहीं वहाँ धर्म है।

टिप्पणी—३—*'धर्महि दूरी'* का भाव यह है कि क्रोधी धर्म करता है, पर धर्म ही उसके निकट नहीं आता। तात्पर्य कि क्रोध करके जो धर्म किया जाता है उसमें धर्म नहीं होता। वे सब व्यर्थ हो जाते हैं। यथा—*'तामस धर्म करहिं नर जप तप ब्रत मख दान। देव न बरषहिं धरनी बए न जामहिं धान॥'* (७। १०१) क्रोध पापका मूल है, इसीसे धर्म पापसे दूर भागता है। ☞यहाँ नीति और ज्ञान है। *'जस सुराज खल उद्यम गयऊ'* में नीति है।

प० प० प्र०—१ *'पाखंडी हरिपद बिमुख जानहिं झूठ न साँच'* ऐसे खलोंका उद्यम जबतक चलता है तबतक वेदधर्मका पालन और प्रसार असम्भव-सा है। अतः कहते हैं कि राजा धर्मशील हो तब यह शक्य है अन्यथा नहीं। सुराजका लक्षण देते हैं कि राजा काम-क्रोधादि-विकार-रहित हो। २—धर्मको धूलकी उपमा देनेमें केवल एक गुणकी ही समानता दर्शित की है। धूल नीच है और अधर्मी कृतघ्न है, यथा—*'लातहु मारे चढ़ति सिर नीच को धूरि समान॥'* (२। २२९) *'रज मग परी निरादर रहई। सब कर पद प्रहार नित सहई॥ मरुत उड़ाव प्रथम तेहि भरई। पुनि नृप नयन किरीटन्हि परई॥ सुनु खगपति अस समुझि प्रसंगा। बुध नहिं करहिं अधम कर संगा॥'*—तब धर्मको ऐसे नीचकी उपमा, ऐसी विषयोपमा, क्यों दी गयी ? उत्तर—इसमें श्रीरामजीके विचारोंका प्रतिबिम्ब निहित है। श्रीजानकीजीके विरहसे श्रीरामजीका मन व्याप्त है। रावणका विनाश किस तरह होगा इसका चिन्तन चल रहा है। *'काल दंड गहि काहु न मारा। हरइ धरम बल बुद्धि बिचारा॥'* क्रोधानलसे जब रावणका धर्म दूर हो जायगा तभी उसका नाश होगा। यह विचार प्रभारी था और हुआ भी ऐसा ही। यथा—*'रावन क्रोध अनल निज स्वास समीर प्रचंड।'* विभीषणका त्याग करते ही रावण *'भयउ बिभव बिनु तबहिं अभागा।'* इस प्रकार रावणके धर्म (पुण्य) का विनाश होनेपर ही सेतु-बन्धनादि रावण-विनाश-कार्यका आरम्भ हुआ। ३—खल रावणका कुराज्य नष्ट होनेपर, साधु विभीषणका राज्य होनेपर निशाचररूपी खलोंका उद्यम न चलेगा, यह भाव भी है।

मा० म०—*'मिलइ नहिं धूरी।.........'* में भाव यह है कि धूलि कीचड़ हो गयी, वैसे ही क्रोधसे धर्म सूख (?) जाता है और क्रोध धर्म अर्थात् तामस धर्म बढ़ जाता है। तात्पर्य कि हृदयरूप तामस भूमिपर मनरूपी आकाशसे जब क्रोधरूपी नीर पड़ा तो धर्मरूपी धूलि अघ (अनीति अविवेक) रूपी पङ्क हो गया।

प्र०—धूलि कहीं नहीं मिलती क्योंकि वर्षा होनेसे कुपथ (अधर्म) रूपी पङ्क बढ़ा। जैसे क्रोध धर्मको दूर कर देता है अर्थात् क्रोधसे अविवेक और अनीतिकी बाढ़ होती है।

ससि संपन्न सोह महि कैसी। उपकारी कै संपति जैसी॥ ५॥
निसि तम घन खद्योत बिराजा। जनु दंभिन्ह कर मिला समाजा॥ ६॥

शब्दार्थ—ससि (सं० शस्य)=अनाज, अन्न, खेती। संपन्न=परिपूर्ण=भरेपूरे। विराजना=विशेष शोभित होना।

अर्थ—अन्नसे सम्पन्न पृथ्वी कैसी शोभित हो रही है जैसी परोपकारीकी सम्पत्ति (सोहती है)॥ ५॥ रात्रिमें अन्धकार और बादल होनेसे जुगुनू प्रकाशित एवं शोभित हैं मानो दम्भियों (पाखण्डियों) का समाज आ जुटा है॥ ६॥

नोट—१ इन चौपाईयोंसे मिलते हुए श्लोक ये हैं—'**क्षेत्राणि सस्यसंपद्भिः कर्षकाणां मुदं ददुः। धनिनामुपतापं च दैवाधीनमजानताम्॥ निशामुखेषु खद्योतास्तमसा भान्ति न ग्रहाः। यथा पापेन पाखण्डा न हि वेदाः कलौ युगे॥**' (भा० १०। २०। १२, ८) अर्थात् सब खेत धान्योंसे भरे-पूरे लहलहा रहे थे। हरे-भरे खेत किसानोंको आनन्दित करते थे—और (धान्यके संग्रह करनेवाले व्यापारी) धनियोंको दुःख देते थे—जो धनी बेवकूफ थे, यह न जानते थे कि सब कुछ दैवाधीन होता है, सब दिन एक-से नहीं होते, न जाने कब भाग्य पलटा खा जाय। निशाके प्रारम्भके घोर अन्धकारमें अँधेरेके कारण ग्रह (तारागण) नहीं चमकते थे। जुगनू चमकते हैं। जैसे पापके कारण पाखण्डमत कलिमें चमकते हैं, प्रतिष्ठा पाते हैं, पर वेद या वेदज्ञ वा वैदिक सम्प्रदाय (प्रकाश नहीं करते। लुप्त हो जाते हैं)।

नोट—२ खेतीसे पृथ्वी शोभित है। इसमें खेती पृथ्वीकी सम्पत्ति है। इस प्रकार *'ससि संपन्न सोह महि'* में सम्पत्तिकी उपकारीसे शोभा कही गयी। अन्य प्रसङ्गोंमें पृथ्वी 'उपकारी' है। यथा—*'संत बिटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबन्हि कै करनी॥'* परंतु प्रस्तुत उदाहरणमें 'उपकारीकी सम्पत्ति जैसी शोभित हो' ऐसा कहते हैं अर्थात् इसमें उपकारीसे सम्पत्तिकी शोभा कही। ऐसा कहकर कवि जनाते हैं कि सम्पत्तिसे उपकारीकी शोभा है और उपकारीसे सम्पत्तिकी। सम्पत्ति हो और उपकारमें न लगे तो अशोभित है और उपकारी हो, पर पास सम्पत्ति न हो तो उपकारी होनेसे ही क्या लाभ ? इससे अन्योन्य शोभा दिखायी। यथा—'**मणिना वलयं वलयेन मणिर्मणिना वलयेन विभाति करः, पयसा कमलं कमलेन पयः पयसा कमलेन विभाति सरः। शशिना च निशा निशया च शशिः शशिना निशया च विभाति नभः, भवता च सभा सभया च भवान् भवता सभया च विभामो वयम्॥**' (वैवाहिक पद्य-पञ्चाशिका वरपक्ष श्लोक ८) परंतु प्रस्तुत प्रकरणमें पृथ्वी और सम्पत्ति समान लिङ्गमें होनेसे दोनोंमें दार्ष्टान्त और दृष्टान्तका भाव है।

टिप्पणी—१ 'उपकारी' कहनेका भाव कि—खेतीसे अनेक जीवोंका उपकार होता है। ऐसे ही उपकारीकी सम्पत्तिसे बहुत जीवोंका उपकार है।

टिप्पणी—२—खेतीसे पृथ्वीका कुछ उपकार नहीं, केवल शोभा है; ऐसे ही उपकारीकी सम्पत्तिसे सबका उपकार होता है, पर उपकारी अपने उपकारमें नहीं लाता।

प० प० प्र०—धर्मशील राजाके राज्यमें कैसी स्थिति होती है यह यहाँ कहते हैं। '**सुजलां सुफलां सस्य श्यामलां**' महि ही सु-राजा (उपकारी) की सम्पत्ति है। जिस राजाकी महि शशिसम्पन्न नहीं है, उसे समझना चाहिये कि वह धर्मशील नहीं है। *'ससि संपन्न सदा रह धरनी'* ऐसा रामराज्यका वर्णन है। *'भूप प्रतापभानु बल पाई। कामधेनु भइ भूमि सुहाई॥'* यह धर्मशील भानुप्रताप राजाके समयका वर्णन है। कुराज्यके लक्षण हैं—*'द्विज श्रुति बंचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम अनुसासन॥'* जब ऐसी स्थिति हो जाती है, तब *'देव न बरषहिं धरनी बए न जामहिं धान।'* (७। १०१)

टिप्पणी—३ (क) *'निसि तम'* का भाव कि रात्रिके अन्धकारमें जुगनू सोहते हैं; दिनके अन्धकारमें नहीं सोहते, यद्यपि दिनमें भी अँधेरा होता है, यथा—*'कबहुँ दिवस महँ निबिड तम।'* (ख) *'बिराजा'* का भाव कि रात्रिके अँधेरेमें जुगनू 'राजते' हैं और मेघोंके होनेसे विशेष राजते हैं। (ग) *'घन'* कहकर जनाया कि आकाशमें जब चन्द्रमा वा तारागण कोई नहीं प्रकाश करते तब खद्योत प्रकाश करते हैं। ऐसे ही जहाँ कोई विद्वान् वेद-पुराण शास्त्रका प्रकाश करनेवाला नहीं है, वहाँ दम्भी दम्भकी बातें कहकर अपना-अपना प्रकाश अँधेरेमें दिखाते हैं—(प्र०—परंतु जैसे खद्योतसमाजसे अन्धकार दूर नहीं होता, वैसे ही दम्भी अपने चमत्कारसे अज्ञानतमको दूर नहीं कर सकते।)

नोट—३ इसका भाव भागवतके श्लोकसे यह निकलता है कि बादल और वर्षाके अन्धकारसे आकाश छाया हुआ है, कोई ग्रह-नक्षत्र नहीं देख पड़ते तब जुगनू चमकते हैं। ऐसे ही कलिमें पापके छा जानेसे वेदादिका प्रकाश नहीं देख पड़ता। दम्भी, पाखण्डी और उनका दम्भ सर्वत्र चमचम होता है।

प० प० प्र०—*'निसि तम……'* इति। सुराजाके अभावमें क्या होता है यह यहाँ बताते हैं। *'निसि'*

से सूचित किया कि राजाका प्रतापरूपी भानु नहीं है। 'निशितम' से जनाया कि राजाके अधिकारी, न्यायाधीश, संरक्षक दल (पुलिस) रूपी चन्द्र और तारागण भी धर्मशीलतारूपी प्रकाशसे रहित हैं। जब राजा और उसके अधिकारी दोनों ही धर्महीन प्रभुपदविमुख होते हैं, तब राष्ट्रमें, समाजमें दम्भी, पाखण्डी लोगोंका समाज बढ़ता है और उनके विचाररूपी प्रकाशपर ही बहुजन समाज चलता है। राजाका प्रतापरूपी भानु तथा राजसत्ताका सुधाकर प्रकाशहीन हो गये, अतः संतरूपी सरोज विकसित नहीं होते।

महाबृष्टि चलि फूटि किआरी। जिमि सुतंत्र भए बिगरहिं नारी॥ ७॥

कृषी निरावहिं चतुर किसाना। जिमि बुध तजहिं मोह मद माना॥ ८॥

शब्दार्थ—**किआरी**—खेतोंमें थोड़े-थोड़े अन्तरपर दो पतले मेड़ोंके बीचकी भूमि जिसमें बीज बोये जाते हैं, (मेंड़सहित) उस भूमिको क्यारी कहते हैं। निराना=फसलके पौधोंके आसपास उगी हुई घास आदिको खोदकर दूर करना जिसमें पौधोंकी बाढ़ न रुके।=निकालना।

अर्थ—महावृष्टि (वर्षाकी बहुत बड़ी झड़ी) से क्यारियाँ फूट चलीं, जैसे स्वतन्त्र होनेसे स्त्रियाँ बिगड़ जाती हैं॥ ७॥ चतुर किसान खेतीको निराते हैं (घास-तृण निकाल फेंकते हैं); जैसे पण्डित लोग मोह, मद और मानका त्याग करते हैं॥ ८॥

नोट—१ *'चलि फूटि'* अर्थात् फूटकर बह जाती है, ठिकाने नहीं रहती। ऐसे ही स्त्री स्वतन्त्र होनेसे बिगड़कर बह जाती है। नारी कियारीके समान है, स्वतन्त्रता महावृष्टिके समान है।—यहाँ नीति है। (पं० रा० कु०) मानसप्रचारक श्रीरामप्रसादशरणजी लिखते हैं कि 'यहाँ क्यारियाँ मर्यादा हैं और स्वतन्त्रता जल है। अधिक स्वतन्त्रता होनेसे स्वेच्छाचारिणी होकर स्त्रियाँ मर्यादा छोड़ देती हैं, जैसे अधिक वृष्टिसे क्यारियोंका जल दूसरे खेतोंमें चला जाता है।' (पर मानसमें 'स्वतन्त्रता' को ही महावृष्टि कहा है न कि अधिक स्वतन्त्रताको।) अतः स्त्रियोंके लिये उपदेश है कि वे अपने पति, पुत्र, भाई या इनके न होनेपर अपने कुलके किसी उत्तम पुरुषके आज्ञानुकूल अपना जीवन व्यतीत करें। (रा० प्र० श०) हितोपदेशमें भी कहा है—**'पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने। पुत्रस्तु स्थविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥'** अर्थात् बचपनमें पिता, जवानीमें पति, बुढ़ापेमें पुत्र, इस प्रकार प्रत्येक अवस्थामें स्त्रीकी रक्षा—देख-रेख होनी चाहिये। स्त्रियाँ स्वतन्त्रता, उच्छृङ्खलताके योग्य नहीं है। मयङ्ककारका मत है कि स्त्रीका पातिव्रत्य धर्म ही मानो पुल है, जिसके दृढ़ होनेकी सम्भावनासे पति घरमें निःशोच सोता है। वह समझता है कि यह धर्म नहीं खोवेगी, इसलिये कहीं आने-जानेमें नहीं रोकता। परंतु युवारूपी पापीके बलसे प्रीति करके स्त्री बिगड़ जाती है। कामी परदाराको ताकनेवाले पतिकी असावधानताका लाभ उठाकर उसका पातिव्रत्य नष्ट कर देते हैं।

भा० १०। २० में *'महाबृष्टि चलि फूटि किआरी'* की जोड़में **'जलौघैर्निरभिद्यन्त सेतवो वर्षतीश्वरे।'** (२३) यह अर्धश्लोक है और *'जिमि सुतंत्र भए बिगरहिं नारी'* की जोड़का **'स्थैर्यं न चक्रुः कामिन्यः पुरुषेषु गुणिष्विव॥'** (१७) यह अर्धश्लोक है। मदन-पारिजातमें यह श्लोक कहा जाता है—**'अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्याः पुरुषैश्च दिवानिशम्। नैतारूपं परीक्षन्ते नासां वयसि संस्थितिः॥ सुरूपं वा कुरूपं वा पुमानित्येव भुञ्जते।'** अर्थात्—स्त्रियोंको स्वतन्त्र नहीं छोड़ना चाहिये—रात-दिन इनपर निगाह रखनी चाहिये। मनुष्य सुरूप है या कुरूप यह इनमें विवेक नहीं होता, न अवस्थाका ही ख्याल होता है; किंतु 'यह मनुष्य स्त्री नहीं' बस उतने मात्रसे धर्मच्युत हो जाती है—स्वयं पतित हो जाती है। इसीसे हितोपदेशमें उपर्युक्त उपदेश कहा है—

टिप्पणी—*'कृषी निरावहिं चतुर……'* इति। (क) *'चतुर'* विशेषण दिया; क्योंकि तृणको निकालकर खेतीकी रक्षा करते हैं, यही किसानकी चतुरता है। (ख) मोह-मद-मान तृण हैं। इनको हृदयसे निकालकर भक्तिरूपी कृषिकी रक्षा करना बुद्धिमान्‌की चतुरता है। मोह-मद-मानको त्यागकर भजन करना चाहिये, यथा—***'परिहरि मान मोह मद भजहु कोसलाधीस।'*** (५। ४०) (ग) *'बुध'* का भाव कि मोह-मद-मानका त्याग बुध ही कर सकते

हैं, अबुध नहीं; यथा—'*पुरुष कुजोगी जिमि उरगारी। मोह बिटप नहिं सकहिं उपारी॥*' ☞ यहाँ ज्ञान है।*

रा० प्र० श०—तृण बोया नहीं जाता, स्वयं उत्पन्न हो जाता है। वैसे ही पाठशालाओंमें तो अनेक प्रकारकी लोक-परलोकहितकारी विद्या ही पढ़ाई जाती है, चोरी-चमारी नहीं पर प्रकृत-शरीरमें उनके न सिखाये जानेपर भी अनेक दुर्गुण स्वयं उत्पन्न हो जाते हैं। पण्डितलोग इन्हें धीरे-धीरे त्याग कर देते हैं, नहीं तो वे उत्तम गुणोंको दबा दें जैसे तृण गेहूँ आदि अन्नको दबा देता है।

मा० म०—चतुर किसान इस कारण खेती निराते हैं कि उपज अच्छी होगी तो धनीका ऋण और पोत दिया जायेगा, भूषणादि बनेंगे, पेट भी भरेगा और ब्याह इत्यादि भी भलीभाँति होंगे। यहाँ बुध किसान, हृदय खेत और मोहादि तृण हैं; गुरु धनी है, गुरुका उपदेश पोत है और अन्नका विक्रय रामपञ्चाङ्गका बोध है।

प० प० प्र०—सुराज्यमें राजाको धर्मरक्षणमें कैसा सावधान रहना चाहिये यह यहाँ बताते हैं। जब नारिवर्ग ही बिगड़कर अधर्मप्रवाहमें बहता है तब राष्ट्रमें धर्मका नाश होता है। '**अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषकाः शलभाः शुकाः। प्रत्यासन्नाश्च राजानः**' ये छः खेतीके तथा राष्ट्रके विप्लव होते हैं, (इनको ईति कहते हैं)। यथा—'*ईति भीति जस पाकत साली।*' '*ईति भीति जनु प्रजा दुखारी।*' (२। २३५। ३) 'चतुर किसान' का उल्लेख ध्वनित करता है कि धर्मशील राजाको भी नीतिमें निपुण होना चाहिये। यथा—'*माली भानु किसान सम नीति निपुन नरपाल॥*' (दो० ४०७) और मोह-मद-मान-विहीन बुद्धिमान् भी होना चाहिये, नहीं तो खलोंके उद्यम न टलेंगे।

देखिअत चक्रवाक खग नाहीं। कलिहि पाइ जिमि धर्म पराहीं॥ ९ ॥
ऊसर बरषै तृण नहिं जामा। जिमि हरिजन हिय उपज न कामा॥ १०॥

अर्थ—चक्रवाक पक्षी नहीं देख पड़ते, जैसे कलिको पाकर धर्म भाग जाते हैं॥ ९॥ ऊसरमें वर्षा तो होती है पर तृण भी नहीं जमता, जैसे भगवद्भक्तके हृदयमें काम नहीं उत्पन्न होता॥ १०॥

टिप्पणी—१ '*देखिअत चक्रवाक खग नाहीं।*…' इति। अर्थात् वे कहीं रहते हैं पर दिखायी नहीं देते। वे भागकर मानसरोवरपर चले गये, यथा—'**सम्प्रस्थिता मानसवासलुब्धाः प्रियान्विताः सम्प्रति चक्रवाकाः।**' (वाल्मी० २८। १६) अर्थात् मानस-सरमें रहनेके लोभी चक्रवाकोंने अपनी स्त्रियोंसहित प्रस्थान किया। इसी प्रकार कलिको पाकर लोगोंमें धर्म दिखायी नहीं देता, पुस्तकोंमें लिखा रहता है, यथा—'*सकल धर्म बिपरीत कलि कलपित कोटि कुपंथ। पुन्य पराइ पहार नग दुरे पुरान सद्ग्रंथ॥*' (दो० ५५६) '*धर्म पराहीं*' इति। धर्म वृषभरूप है, कलियुग कसाई है। इसीसे कलिको देखकर धर्मका भागना कहा। यथा—'*कासी कामधेनु कलि कुहत कसाई है।*' (क० ७। १८१) यहाँ नीति है।

नोट—१ १५ (४) में कहा था कि '*करै क्रोध जिमि धर्महि दूरी*' और यहाँ कहते हैं कि '*धर्म पराहीं।*' भाव यह है कि क्रोध धर्मको भगाता है और कलिको देखकर धर्म स्वयं भागते हैं, इसीसे वहाँ '*करै दूरी*' कहा और यहाँ '*पराहीं*'। क्रोधमें मनुष्य अपने सामने दूसरेको रहने नहीं देना चाहता, जैसे परशुरामने कहा है—'*बेगि करहु किन आँखिन्ह ओटा।*'

प० प० प्र०—कलि अधर्ममूल है। अधर्मीराज्यमें धर्म रहता ही नहीं, इसीसे '*सुख संतोष बिराग बिबेका।*……*ए कोक अनेका॥*' शोकके भयसे भाग जाते हैं। इस अर्धालीमें कलिप्रतापका वर्णन है।

नोट—२ मयंककार 'चक्रवाक' और 'खग' ऐसा अर्थ करते हैं। उन्होंने खगसे खंजन पक्षीका अर्थ किया है। परंतु 'खग' से केवल खंजनका अर्थ मानसमें कहीं नहीं आया। 'खग' शब्दको अलग लेनेसे विरोध भी होता है, क्योंकि वर्षाकालमें सब पक्षी भाग नहीं जाते। चक्रवाकका मानसमें जाना वाल्मीकि एवं हिंदी कवियोंने भी लिखा है। (दोहा)—'*प्यारी जुत चकवा गए लोभी मानस बास। वर्षासलिल बिलोकि*

* प्रथम संस्करणमें हमने 'कृषि संस्कृत्य शुन्धन्ति पटीयांसः कृषीबलाः। यथा—'कामादिकं त्यक्त्वा बुधाश्चित्तं पुनन्ति च।' यह श्लोक विष्णुपुराणका कहकर दिया था। परंतु यह श्लोक वि० पु० में नहीं मिला। पं० श्रीकान्तशरणजीने इस श्लोकको सि० ति० में उतार दिया है। अतः हमें इस संस्करणमें इस आलोचनाके साथ देना पड़ा।

कै हिय विश्राम न आस॥' पुनः, कवित्त यथा—'*जैसे फल झरेको बिहंग छाँड़ि देत रूख भुवा देखि सुवा छोड़ै सेमरकी डार को। सुमन सुगंध बिनु जैसे अलि छाँड़ि देत मोती नर छाँड़ि देत जैसे आबदार को॥ जैसे सूखे तालको कुरंग छाँड़ि देत मग शिवदास चित्त फाटे छाँड़ि देत यार को। जैसे चक्रवाक देस छाँड़ि देत पावसमें तैसे कवि छाँड़ि देत ठाकुर लबार को॥*'—(प्र०) परंतु कुछ लोगोंका अनुभव है कि चकवा-चकवीका कहीं-कहीं पावसमें होना पाया जाता है, इसलिये वे यों अर्थ करते हैं कि 'चक्रवाक दिखायी देता है, खग अर्थात् हंस नहीं दिखायी देता।' किंतु मानसका यह मत नहीं है। उसका मत वाल्मी० के अनुसार है। यह वर्षाका वर्णन प्रवर्षणपर्वतपरका है यह भी ध्यान रहे और त्रेतायुगका है।

टिप्पणी—२ '*ऊसर बरषै तृण नहिं जामा।*.....' इति। (क) तृणकी उत्पत्तिका हेतु वर्षा है, अतः हरिजनके हृदयमें काम होनेका भी हेतु होना चाहिये। वह हेतु है—'अनेक उत्तम-उत्तम पदार्थके भोजन।' पर तो भी इनके हृदयमें काम उत्पन्न नहीं हो पाता। (ख) सब पृथ्वीपर तृण जमता है पर ऊसरपर नहीं जमता। ऐसे ही सबके हृदयमें काम उत्पन्न होता है, पर हरिभक्तके हृदयमें नहीं उत्पन्न होता। इसका क्या कारण है, यह 'हरिजन' पदमें जना दिया है। अर्थात् ये तो हरिके जन हैं, इनकी रक्षा 'हरि' करते हैं। हरिसे काम डरता है। हरि सिंह हैं, काम हाथी है, यथा—'*कंदर्प नाग मृगपति मुरारि।*' (वि० ६४), यहाँ हरि शब्द श्लेष है, सिंह और भगवान् दोनोंका वाचक है। ☞ यहाँ ज्ञान है।

प्र०—'*हरिजन*' पदसे जनाया कि इनके हृदयमें हरि हैं, इससे कामादि वहाँ नहीं जा सकते; यथा—'*तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मत्सर मद माना॥ जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप सायक कटि भाथा॥*' वे हरि हैं, अतएव उनके सब दुःखोंको हरण करनेवाले हैं और प्रभुकी प्रतिज्ञा ही है कि—'*बालकसुत सम दास अमानी॥ करउँ सदा तिन्हकै रखवारी। जिमि बालक राखै महतारी॥*' (३। ४३। ८, ५)

रा० प्र० श०—भक्तोंके उत्तम भोजन पानेपर किसीने आक्षेप किया है, यथा—'*साग पात जे खात हैं तिन्हें सतावत काम। हलवा पूरी जो चखैं तिन की जानै राम॥*' गोस्वामीजीने उसका उत्तर भी यहाँ दे दिया है। भगवत्-जन भगवत्-प्रसाद ही पाते हैं, अनर्पित नहीं पाते। इसीसे उनमें विकार नहीं होता (और जो हलुवा-पूरी समझकर पाते हैं, उनमें विकार उत्पन्न हो जाता है)। भगवान् और भगवत्-चरित्र दोनों अभेद हैं। '*कंदर्प नाग मृगपति मुरारि*' यह भगवान्‌के प्रति कहा है और '*काम कोह कलिमल करिगन के। केहरिसावक जन मन बन के*' यह चरितके विषयमें कहा गया है। भाव यह कि वे भगवान् या भगवत्-चरितका ही मनन किया करते हैं, इससे उनके हृदयमें कामादिसे विघ्न नहीं होता।

अ०दी०च०—ऊसर पृथ्वी बहुत अधिक रेहमयी होती है, इसीसे वर्षाजल उसपर निष्फल जाता है। उसपर घास आदि नहीं जमती। उसी प्रकार भगवद्भक्तोंके हृदय श्रीरामपञ्चाङ्ग (नाम, रूप, लीला, धाम और धारणा) रूपी रेहमय होते हैं, भोगरूपी वर्षाजलसे उनमें कामादि तृण नहीं उत्पन्न हो पाते। भगवत्-प्रसाद भोजन, भगवत्-प्रसाद माला-अतर आदि धारण, भगवत्-उत्सवोंमें भगवत्सम्बन्धी गीत श्रवण करने तथा नृत्यादि देखनेसे हृदयमें काम उत्पन्न नहीं होता।

नोट—३ 'हरिजन' शब्दसे जनाया कि ये 'जन' हैं, इन्हें सदा भगवान्‌का बल-भरोसा है; यथा—'*जनहिं मोर बल।*' ये अमानी दास हैं। ये प्रभुकी कृपासे विषयोंको छोड़कर उनमें निःस्पृह होकर भगवान्‌में लवलीन रहते हैं। सारे भोग बिना विकार उत्पन्न किये उनमें समा जाते हैं।

बिबिध जंतु संकुल महि भ्राजा। प्रजा बाढ़ जिमि पाइ सुराजा॥ ११॥
जहँ तहँ रहे पथिक थकि नाना। जिमि इंद्रियगन उपजे ग्याना॥ १२॥

अर्थ—अनेक प्रकारके छोटे-छोटे जीवोंसे भरी हुई पृथ्वी शोभायमान है, जैसे सुराज्य वा स्वराज्य पाकर प्रजा बढ़ती है, अर्थात् प्रजाकी बढ़तीसे राजा एवं राज्यकी शोभा है॥ ११॥ जहाँ-तहाँ अनेक पथिक (बटोही) थककर ठहर गये हैं। जैसे ज्ञान उत्पन्न होनेसे इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं॥ १२॥

गौड़जी—*'जिमि सुराज खल उद्यम गयऊ' 'प्रजा बाढ़ जिमि पाइ सुराजा'* आदि चौपाईयोंमें 'सुराज' पद 'स्वराज्य' और 'सुराज्य' दोनोंके लिये आया है, क्योंकि भारतीय आदर्श दोनोंका एक ही है। साधु राजा शुक्रनीतिके अनुसार अपनेको प्रजाका दास मानता है, और एक धोबीकी खातिर अपनी पटरानीतकका परित्याग कर देता है। उसका राज्य तो वस्तुतः प्रजाका राज्य है। उसका शासन प्रजाकी धरोहर है। इसी दृष्टिसे भारतीय सुराज्य वस्तुतः प्रजाका स्वराज्य है। इसीलिये महात्मा गाँधी स्वराज्य और रामराज्यमें कोई भेद नहीं मानते। 'सुराजमें' तुलसीदासजीके और श्रीरामचन्द्रजीके मतसे भी खलोंका उद्यम नष्ट हो जाता है और प्रजा बढ़ती है। इस कसौटीपर वर्तमान पर-राज्यको कसें तो बात खरी उतरती है। इस समय तो सरकारी कर्मचारियोंका ही खल उद्यम हो रहा है, और देशकी आबादी उस वेगसे नहीं बढ़ने पाती जिस वेगसे स्वतन्त्र देशोंकी बढ़ती है। और देशकी आबादी जहाँ १० प्रतिशत बढ़ती है तो भारतकी एक प्रतिशत बढ़ती है। 'सुराजमें' खलोंका नाश होता है, साधु प्रजा बढ़ती है। (यह लेख ब्रिटिश राज्यके समयका है।)

प० प० प्र०—*'प्रजा बाढ़'* को विविध जन्तुओंकी उपमा देनेमें भाव यह है कि कलियुगमें कदाचित् सुराज्य या स्वराज्य हो जाय तो प्रजाकी संख्या बहुत बढ़ेगी अवश्य, पर वह प्रजा केवल वर्षाकालमें बढ़नेवाले जन्तुओंके समान दुर्बल, क्षुद्र, मशकदंशोंके समान परपीड़क और अल्पायु होगी जैसा आगे दोहासे स्पष्ट है।

टिप्पणी—१ इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयकी ओर दौड़ती हैं, इसीसे पथिकसे उपमा दी। २—ज्ञान होनेसे सब इन्द्रियाँ जहाँ-तहाँ रह जाती हैं, यथा—*'ज्ञान मान जहँ एकौ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं॥'* जब सबमें समान ब्रह्म देख पड़ा तब इन्द्रियाँ किसके साथ रमण करें। ☞ यहाँ नीति और ज्ञान है।

कबीरजीका पद यहाँ पढ़ने योग्य है—*'बालमके संग सोय गईं पाँचो जनीं।'* आदि।

दो०—कबहुँ प्रबल बह मारुत जहँ तहँ मेघ बिलाहिं।
जिमि कुपूत के उपजे कुल सद्धर्म नसाहिं॥
कबहुँ दिवस महुँ निबिड तम कबहुँक प्रगट पतंग।
बिनसइ उपजइ ज्ञान जिमि पाइ कुसंग सुसंग॥ १५॥

अर्थ—कभी पवन बड़े जोरसे चलता है (जिससे) मेघ जहाँ-तहाँ गायब हो जाते हैं, जैसे कुपुत्रके पैदा होनेसे कुलके श्रेष्ठ धर्म नष्ट हो जाते हैं। कभी दिनमें घोर अन्धकार हो जाता है और कभी सूर्य प्रकट हो जाते हैं, जैसे कुसङ्ग पाकर ज्ञानका नाश होता है और अच्छे सङ्गसे ज्ञान उत्पन्न होता है॥ १५॥

टिप्पणी १—एक पवनके चलनेसे अनेकों मेघ छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, वैसे ही एक ही कुपूतसे अनेक सद्धर्म नष्ट हो जाते हैं। वर्षाऋतुमें मेघ मुख्य हैं, इसीसे वर्षाके आरम्भमें मेघका आगमन कहा, यथा—*'बरषा काल मेघ नभ छाए'* और वर्षाके अन्तमें उनका नाश कहा—*'मेघ बिलाहिं।'*

टिप्पणी २—सत्सङ्गसे ज्ञानकी उत्पत्तिमें विलम्ब नहीं होता और कुसङ्गसे ज्ञानके नष्ट होनेमें देर नहीं लगती। जैसे क्षणमें सूर्य छिप जाते हैं और क्षणमें प्रकट हो जाते हैं।

टिप्पणी ३—वर्षाके प्रारम्भमें विष्णुभक्तका दर्शन कहा, यथा—*'गृही बिरतिरत हरष जस बिष्नुभगत कहँ देखि'* (१३) और अन्तमें सुसङ्गसे ज्ञानकी प्राप्ति कही—*'बिनसइ उपजइ ज्ञान'''''।'* यहाँ पहले विनाश कहकर पीछे *'उपजइ'* कहकर ज्ञानकी उपज (उदय) पर प्रसङ्गकी समाप्ति की, विनाशपर समाप्ति नहीं की—यहाँ ज्ञान और नीति है।

मा० म०—कपूत लोक, वेद और कुल तीनोंके प्रतिकूल कर्म करता है, इससे कुलके सद्धर्मका नाश हो जाता है। यहाँ रूपक यों है कि—धर्मरूपी मेघ कुलरूपी नभमें पापकर्मरूपी वायुकी प्रचण्डतासे नष्ट हो जाते हैं।

मयूख—चौदहवें दोहेके ऊपर दो नक्षत्र वर्णन किये हैं और तेरहवेंके ऊपर चार नक्षत्रोंका वर्णन है। अर्थात् *'दादुर धुनि चहुँ दिसा सोहाई'* से आगे दो नक्षत्र कहे हैं और *'लछिमन देखहु……'* के बाद चारका वर्णन है और *'खोजत कतहुँ मिलै नहिं धूरी'* यहाँ अश्लेषा-नक्षत्र जानो और *'महावृष्टि चलि फूटि कियारी'* इसको मघा-नक्षत्र जानो जिसमें बहुत वर्षा होनेसे पुल टूट गये। वर्षाऋतुके तीन महीने बीत गये, इसमें छः नक्षत्र भलीभाँति बरसे, अब केवल एक महीना रह गया जिसमें दो नक्षत्र बाकी रह गये, परन्तु उनमें वर्षा थोड़ी होती है।

प० प० प्र०—१ इस दोहेमें भी श्रीरामजीके विचारोंका प्रतिबिम्ब है। 'वर्षा बीत गयी, सीताजीकी सुध न मिली; अतः विचारते हैं कि यदि मैं सीताजीको प्राप्त न कर सकूँ तो मेरे कुलकी अपकीर्त्ति होगी और स्वर्गस्थ मेरे पिता मुझे कुपुत्र कहेंगे। पुलस्त्यकुलमें रावण कुलकलङ्क पैदा हुआ है। उसको दण्ड देना आवश्यक है। पर सुग्रीवकी सहायता बिना सीताजीकी खबर कैसे मिलेगी? मित्रकार्य सुग्रीव न करेगा तो वह कुलकलङ्क ही होगा', पर वह मेरा मित्र है उसे सुपन्थपर लाना मेरा भी कर्तव्य है।

प० प० प्र०—२ सुग्रीवको सुसङ्गसे ज्ञान हुआ था, पर विषय और विषयी लोगोंके कुसङ्गसे वह नष्ट हो गया। जब उसे पुनः सुसङ्ग होगा तब ज्ञान-भानु प्रकाश-विरोधक विषय मोहरूपी मेघपटलका नाश सद्गुरुवचनरूपी **(स्वः सम्भवम्)** वायुसे होगा, जब पवनसुतके उपदेशसे मोह नष्ट होगा तब वह कार्यमें तत्पर होगा।

प० प० प्र०—३ यह दोहा प्रौष्ठपदी पूर्णिमा है। वर्षाऋतुकी समाप्ति *'बरषा बिगत सरद रितु आई।'* आगेके इस चरणपर होती है। *'बरषाकाल मेघ नभ छाए।'* (१३। ८) से *'बरषा बिगत……'* तक ५९ चरण हैं और दो चन्द्रमास मिलकर भी ५९ ही दिन होते हैं। आगे भी *'लछिमन देखहु परम सुहाई।'* (१६। १) से लेकर *'धनुष चढ़ाइ गहे कर बाना।'* (१८। १) तक जहाँपर कार्तिकी पूर्णिमा होती है फिर ५९ ही चरण हैं। दोहा १६ *'चले हरषि तजि नगर नृप तापस बनिक भिखारी'* में विजयदशमी है। कारण कि *'लछिमन देखहु परम सुहाई'* से 'आश्रमी चार' तक २३ चरण हैं जिसमेंसे १४ दिन आश्विनकृष्णके और ९ दिन आश्विनशुक्लके हैं। विजयदशमीसे दीवाली बीस दिनपर होती है। अतः दोहा १७ के अन्ततक बीस चरण हैं। १७ वें दोहेमें दीवाली है। फिर *'धनुष चढ़ाइ गहे कर बाना'* तक १६ चरण हैं। एक दिन कार्तिक अमावस्याका और १५ दिन कार्तिक शुक्लपक्षके। तिथियोंके वृद्धिक्षयानुसार एकाध दिनका हेरफेर देखनेमें आता है।

☞ *'कहत अनुज सन कथा अनेका'* से यहाँतक 'वर्षावर्णन'-प्रसङ्ग है।

'शरद्-वर्णन'—प्रकरण

बरषा बिगत सरद रितु आई। लछिमन देखहु परम सुहाई॥ १॥
फूले कास सकल महि छाई। जनु बरषा कृत प्रगट बुढ़ाई॥ २॥

शब्दार्थ—कृत=किया। *'कपिहि तिलक करि प्रभु कृत सयल प्रबर्षन बास।'* (उत्तर० ६६)

अर्थ—हे लक्ष्मण! देखो, वर्षा बीत गयी और परम सुहावनी शरद्ऋतु आ गयी॥ १॥ फूले हुए काँससे सब पृथ्वी छा गयी (ऐसी दिखती है) मानो वर्षाऋतुने अपना बुढ़ापा प्रकट किया है॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) *'बरषा बिगत'* कहकर वर्षावर्णन-प्रसङ्गकी समाप्ति की। और *'सरद रितु आई'* कहकर शरद्ऋतुवर्णन-प्रसङ्ग प्रारम्भ किया। (ख) वर्षावर्णनके प्रारम्भमें लक्ष्मणजीको सम्बोधन किया, यथा—*'लछिमन देखु मोर गन……।'* वैसे ही अब शरद्वर्णनमें *'लछिमन देखहु'* कहा। (ग) वर्षाको *'परम सुहाई'* कहा। वैसे ही यहाँ शरद्को कहते हैं। यथा—पूर्व *'बरषा काल मेघ नभ छाए। गरजत लागत परम सुहाए॥'* यथा—यहाँ *'लछिमन देखहु परम सुहाई।'* [पुनः, वर्षाकाल भी सुहावना है जब कि मेघमण्डल आकाशमें छाया हुआ हो। अन्य ऋतुओंमें मेघका छा जाना सुहावना नहीं लगता। अपने समयपर सबकी शोभा होती है। वर्षाकालमें आकाशमण्डलमें मेघोंके छा जानेसे शोभा होती है और जब वे गर्जन करते हैं तब परम शोभायमान होते

हैं; पर शरदृतु तो स्वभावसे ही परम सुहावनी है। 'पावसके आरम्भमें श्रीलक्ष्मणजीको सम्बोधित किया, वैसे ही यहाँ शरद्के आरम्भमें ही पुन: *'लछिमन देखहु'* कहनेमें भाव यह है कि इन दोनों ऋतुओंका वर्णन सरकार लक्ष्मणजीसे ही कर रहे हैं, विरहके दिनोंका बीतना कठिन हो रहा है।' (वि० त्रि०) वि०पु० में इसकी जोड़का यह अर्धश्लोक है—**'प्रावृड् व्यतीता विकसत्सरोजा चाभवच्छरत्'** (५। १०। १) अर्थात् वर्षाकाल बीत गया, प्रफुल्लित कमलोंसे युक्त शरदृतु आ गया।] ☞यहाँ नीति है।

☞शरद्-वर्णनमें जिन वस्तुओंका वर्णन करना चाहिये उनको गोसाईंजी आगे वर्णन करते हैं। कविप्रियामें वस्तुओंके नाम ये हैं—*'अमल अकास प्रकास ससि मुदित कमल कुल कास। पंथी पितर पयान नृप सरद सुकेशवदास॥'*

नोट—१ *'लछिमन देखहु……'* इति। पंजाबीजी लिखते हैं कि प्रभुके वचनामृत सुननेमें सौमित्रिजीका ध्यान रञ्चक शिथिल देखा……इससे यहाँ द्वितीय बार 'लक्ष्मण' पद उनको सावधान करनेके लिये दिया। पर हमारी समझमें लक्ष्मणजीके विषयमें ऐसा कहना यथार्थ नहीं वरन् अनुचित-सा है; विशेषत: इस समय कि जब प्रभु *'कहत अनुज सन कथा अनेका। भगति बिरति नृपनीति बिबेका॥'* क्या वे कभी असावधान रह सकते हैं? कदापि नहीं। अरण्यकाण्डमें प्रभु-नारद-संवादमें भी प्रभुने *'सुनि मुनि तोहि कहउँ सहरोसा।'* (३। ४३। ४) *'सुनु मुनि कह पुरान श्रुति संता।'* (३। ४४। १) *'सुनु मुनि संतन्हके गुन कहऊँ।'* (३। ४५। ६) *'मुनि सुनु साधुन्हके गुन जेते।'* (३। ४६। ८) इत्यादि कई बार *'सुनु मुनि'* कहा है, वह भी सावधान करनेके लिये नहीं, वरन् जब एक बात समाप्त हुई दूसरी प्रारम्भ हुई तब फिर सम्बोधित किया। वही बात यहाँ है।

श्री प्र० स्वामीजीका भी मत है कि वर्षा और शरद्का वर्णन एक दिनमें बैठकर नहीं हुआ है, यह *'हरित भूमि तृन संकुल समुझि परहिं नहिं पंथ।'* (१४) से स्पष्ट है, कारण कि वर्षाके आरम्भके २०-२१ दिनोंके बाद ही भूमि तृण-संकुल होती है न कि उसी दिन। अत: सावधान करनेका प्रश्न ही नहीं उठता।

नोट २—पंजाबीजी *'परम सुहाई'* विशेषणके भाव यह लिखते हैं—(क) वर्षाऋतु सुन्दर तो थी पर उसमें कभी 'महावृष्टि' और कभी उष्णताका भय, एवं कहीं-कहीं कीचादिका खेद होता था। पुन: नदी स्पर्शयोग्य न थी।—(गङ्गा, सरयू आदि पुण्य नदियोंका जल वर्षामें भी पवित्र माना गया है। इनके लिये वह नियम नहीं है जो अन्य नदियोंके लिये है। इससे स्पर्शयोग्यके बदले यह कहना कुछ अच्छा होगा कि जल निर्मल नहीं रहता जैसा कवि स्वयं आगे कहते हैं—*'सरिता सर निर्मल जल सोहा।'* अर्थात् पूर्व 'समल' था, अब स्वच्छ है।) शरद्में ये दोष नहीं रहे। पुन:, (ख) शरद् समऋतु है। वा, (ग) भविष्य सूचित करते हुए ऐसा कहते हैं, क्योंकि यह ऋतु श्रीसीताजीकी प्राप्तिके उद्योगके योग्य है। (पां०) अतएव *'परम सुहाई'* कहा।

टिप्पणी—२ (क) *'फूले काँस……'* इति। काँसके फूल श्वेत होते हैं, ये ही मानो वर्षाके श्वेत केश हैं। तात्पर्य कि काँसके फूलनेसे वर्षाका अन्त समझा जाता है। (ख) *'प्रगट बुढ़ाई'*—प्रकटका भाव कि शरीरका बुढ़ापा अनुमानसे जाना जाता है। काँसने फूलकर वर्षाका बुढ़ापा प्रकट दिखा दिया।—(नोट—पं० रामकुमारजीने 'कृत' की जगह 'रितु' पाठ रखा है और रामायणपरिचर्यामें भी 'रितु' पाठ है।)

टिप्पणी—३ वर्षामें मेघ मुख्य हैं, इसीसे उसके प्रारम्भमें मेघोंका आगमन कहा था, जो श्यामताके प्रकट करनेवाले हैं, यथा—*'बरषा काल मेघ नभ छाए।'* शरद्में उज्ज्वलता मुख्य है, इसलिये इसके आरम्भमें काँसका फूलना कहा। ☞यहाँ नीति है। यहाँ सिद्धविषयाहेतूत्प्रेक्षा है।

उदित अगस्ति पंथ जल सोखा। जिमि लोभहि सोषइ संतोषा॥ ३॥

शब्दार्थ—**'अगस्ति'** (अगस्त्य)—यह एक तारा है जो भादोंमें सिंहके सूर्यके १७ अंशपर उदय होता है। रंग इसका कुछ पीलापन लिये हुए सफेद होता है। इसका उदय दक्षिणकी ओर होता है, इसीसे बहुत उत्तरके निवासियोंको यह नहीं दिखायी देता। आकाशके स्थिर तारोंमें लुब्धकको छोड़कर दूसरा कोई इस-जैसा नहीं चमचमाता। यह लुब्धकसे ३५० अंश दक्षिण है।

अर्थ—अगस्त्य ताराका उदय हुआ और मार्गका जल सोख लिया गया, जैसे संतोष लोभको सोख लेता है* ॥ ३ ॥

टिप्पणी—१ अगस्त्यने पंथजलको सोख लिया, दूषित पंथको साफ कर दिया। इस कथनमें तात्पर्य यह है कि महात्माओंका उदय पंथके साफ करनेके लिये है, यह अभिप्राय दिखानेके लिये ही 'पंथका जल' कहा और जलाशयोंको न कहा। पुनः,

टिप्पणी—२ अगस्त्यके उदयसे नदी, तालाब आदि सबका ही जल सूखता है पर सब जल नहीं सूखता, बहुत कुछ बना रहता है; इसीसे इन जलाशयोंका सूखना न कहा। पंथका सब जल सूख जाता है इससे उसीको कहा। पुनः,

टिप्पणी—३ [पंथका जल सूखनेसे श्रीरामजीके कार्यकी सिद्धि होनी है, इससे प्रथम पंथके जलका ही सूखना कहा।]—यहाँ ज्ञान है।

समता

'अगस्ति पंथजल सोषा'	*'संतोष लोभहि सोषइ'*
१ पंथका जल सदा मलिन रहता है और पंथको भी दूषित किये रहता है।	लोभसे हृदय सदा मलिन रहता है, यथा—***'सदा मलिन पंथके जल ज्यों कबहुँ न हृदय थिराने।'*** (वि० २३५)
२ जबतक जल रहता है, मार्गमें लोग नहीं जाते, जल सूखनेपर सब जाते हैं।	लोभके रहते लोभीके पास कोई नहीं जाता, लोभ न रहनेपर सब जाते हैं।
३ अगस्त्यके उदयपर पंथका सब जल सूख जाता है।	संतोषसे समस्त लोभका नाश हो जाता है।
४ अगस्त्य आकाशमें, पंथका जल पृथ्वीपर। दोनोंमें बड़ा अन्तर है।	संतोषका उदय हृदयाकाशमें होनेपर लोभ उसके समीप नहीं आता, दूरहीसे उसका नाश हो जाता है।
५ समुद्रके सोखनेवाले अगस्त्यके लिये पंथजलके सोखनेमें परिश्रम नहीं।	संतोष होनेसे बिना परिश्रम लोभका नाश है।

नोट—१ मार्गका जल सूखनेसे पथिकोंको सुख होगा। अगस्त्य नामका तारा महर्षि अगस्त्यके नामसे है। अगस्त्यजीका यह महत्त्व था कि उन्होंने समुद्रको तीन आचमनमें सोख लिया था और इस ताराका यह प्रभाव है कि इसके उदयसे वर्षाऋतुका अन्त और जलका शोषण होता है। इसी प्रकार संतोष होनेपर लोभादि नष्ट हो जाते हैं जिससे जीव सुखी होता है। यथा—***'बिनु संतोष न काम नसाहीं। काम अछत सुख सपनेहु नाहीं॥'*** (७। ९०। १) संतोष होनेसे कामना ही नहीं रह जाती, तब लोभ कहाँसे होगा? कामनारहित होनेसे भगवान्‌में मन लगेगा जहाँ आनन्द-ही-आनन्द है।

सरिता सर निर्मल जल सोहा। संत हृदय जस गत मद मोहा॥ ४॥
रस रस सूख सरित सर पानी। ममता त्याग करहिं जिमि ज्ञानी॥ ५॥

शब्दार्थ—रस-रस=रसे-रसे, धीरे-धीरे, शनैः-शनैः।

अर्थ—नदी और तालाबमें निर्मल (मलिनतारहित) जल उसी प्रकार शोभित है जैसे संतोंका मद और

* प्र० स्वामीजी यह अर्थ करते हैं—'लोभ ही संतोषका नाश कर देता है।' और लिखते हैं कि जबतक ज्ञान दृढ़ होकर रामकृपासे पराभक्ति न प्राप्त होगी तबतक ज्ञान होनेपर भी जरा-सा लोभ संतोषका विनाश कर देता है। सुग्रीवको 'उपजा ज्ञान' तब संतोष हो गया था, पर कुसङ्गसे विषयलोभ पैदा हो गया। भानुप्रतापको संतोष था, पर कपटी मुनिके कुसङ्गसे लोभ हो जानेसे संतोष नष्ट होकर सर्वनाश हुआ। इत्यादि। 'हि' का उपयोग अवधारणार्थक हुआ है, जैसे 'तुम्हहि बिचारि कहहु नरनाहा।' (७। १८। ५) 'तुम्हरेहि भाग राम बन जाहीं' इत्यादिमें।

मोहरहित हृदय शोभित होता है॥ ४॥ नदियों और तालाबोंका पानी धीरे-धीरे सूख रहा है जैसे ज्ञानी (धीरे-धीरे) ममताका त्याग करते हैं॥ ५॥

टिप्पणी—१ वर्षाका जल पृथ्वीपर गिरकर गँदला हो गया था, यथा—'*भूमि परत भा ढाबर पानी।*' वह नदी और तालाबोंमें पहुँचा इससे उनका जल भी मलिन हो गया था। अब शरदृतु पाकर वह निर्मल हुआ, तब उसकी शोभा कही। (शरद्ने जलको निर्मल बना दिया, सद्गुरुने रामपञ्चाङ्गका बोध कराके संतके हृदयको निर्मल कर दिया। अ० दी० च०) संत 'सरिता सर' हैं, हृदय जल है, मद मोह मल है। (प० प० प्र० का मत है कि जीवन्मुक्त ज्ञानी संत सरिताके समान हैं और जो '*मुकुति निरादर भगति लोभाने*' वे संत सरके समान हैं। और कोई सदा विचरते रहनेवाले सन्तोंका नदी और एक ही स्थानपर रहनेवाले संतको सर कहते हैं; वा, बहुतोंका उपकार करनेवाले नदी और कुछका उपकार करनेवाले सर हैं। वा, जो जन्मसे ही संत हैं वे सरिता हैं और जो कुछ कालके पश्चात् साधु हुए वे सर हैं। इत्यादि।)

टिप्पणी—२ '*ममता त्याग करहिं जिमि ज्ञानी*' इति। ममत्वका त्याग ज्ञानसे होता है, इसीसे ज्ञानीको ममताका त्याग करना कहा; यथा—'*जासु ज्ञान रबि भव निसि नासा। बचन किरन मुनि कमल बिकासा॥ तेहि कि मोह ममता नियराई।*' ☞ यहाँ ज्ञान है।

नोट—१ '*ज्ञानी*' से श्रीजनकजी आदि दृढ़ ज्ञानी अभिप्रेत नहीं हैं। उनके पास तो मोह-ममत्व आ ही नहीं सकता और न उनमें ममता है जिसे वे दूर करेंगे। जो ज्ञानमार्गपर आरूढ़ हो रहे हैं, नये ज्ञानी हैं, अभी जिनमें ममत्वका अंश है वे अभिप्रेत हैं। प्र० स्वामीजीका भी यही मत है। वि० पु० में '*ज्ञानी*' के बदले '**बुधाः**' और श्रीमद्भागवतमें '**धीराः**' शब्द आया है। वही यहाँ '*ज्ञानी*' का भाव जानना चाहिये। गीतामें जहाँ आत्मज्ञानके उपयोगी 'अमानित्व' आदि गुणसमुदाय बतलाये गये हैं वहाँ '**असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।**' (१३। ८) भी एक गुण कहा गया है। अर्थात् आत्माके अतिरिक्त अन्य विषयोंमें आसक्तिका अभाव तथा पुत्र, स्त्री और घर आदिमें अभिष्वङ्गका अभाव—उनमें शास्त्रीय कर्मोंकी उपयोगिताके सिवा सम्बन्धका अभाव। यही 'ममता त्याग' का भाव है।

नोट—२ समानार्थक श्लोक ये हैं—'**सर्वत्रातिप्रसन्नानि सलिलानि तथाभवन्। ज्ञाते सर्वगते विष्णौ मनांसीव सुमेधसाम्॥**' (वि० पु० ५। १०। ११) अर्थात् जल सर्व स्थानों (जलाशयों) में वैसा ही निर्मल हो गया है जैसा सद्बुद्धि लोगोंका मन सर्वव्यापी विष्णुके जाननेसे हो जाता है। पुनश्च—'**शनकैः शनकैस्तीरं तत्यजुश्च जलाशयाः। ममत्वं क्षेत्रपुत्रादिरूढमुच्चैर्यथा बुधाः॥**' (श्लोक ८) अर्थात् जलाशयोंने धीरे-धीरे तीरको छोड़ दिया जैसे पण्डित लोग घर-पुत्रादिमें चिरकालकी बढ़ी हुई ममताको छोड़ देते हैं। भा० (१०। २०। ३९) वाला श्लोक भी इसी भावका है यद्यपि रूपमें भिन्न है। यथा—'**शनैः शनैर्जहुः पङ्कं स्थलान्यामं च वीरुधः। यथाहंममतां धीराः शरीरादिष्वनात्मसु॥**' अर्थात् स्थलोंने कीचड़ और वृक्षोंने अपक्वपनको धीरे-धीरे दूर कर दिया जैसे धीर पुरुष शरीरादिकी अहंता एवं ममता त्याग कर देते हैं।

उपर्युक्त श्लोकोंसे मिलान करनेसे '*संत हृदय जस गत मद मोहा।*' में यह भाव है कि जिन मेधावी पुरुषोंने भगवान्‌को जान लिया है वे ही 'संत' शब्दसे कहे गये हैं, क्योंकि प्रभुको जान लेनेपर ही हृदय निर्मल होता है, अन्यथा नहीं।

प० प० प्र०—'*ममता त्याग*·····' का भाव यह है कि ज्ञान प्राप्त होनेपर ममत्वका त्याग करना चाहिये। ममत्व मल है, ज्ञानसे उसको जला डाला जाता है; यथा—'*बुद्धि सिरावै ज्ञान घृत ममता मल जरि जाइ।*' (७। ११७) तात्पर्य यह है कि ममतासे ज्ञान मलिन हो जाता है, अतः ममताजनक विषयोंके संसर्गसे ही दूर रहना चाहिये।

प० प० प्र०—२ इन अर्धालियोंमें भी सुग्रीवका स्मरण है। उनका हृदय निर्मल जलके समान हो गया था पर अब तो मद-मोहादिसे मलिन हो गया है। सुग्रीवने आगे स्वयं इसे स्वीकार किया है। यथा—'*नाथ बिषय सम मद कछु नाहीं। मुनि मन मोह करै छन माहीं॥*' इसमें उपदेश यह है कि हृदय जलके समान

है, कुसङ्गसे मलिन और सुसङ्गसे निर्मल होता है; यथा—*'ग्रह भेषज जल पवन पट पाइ कुजोग सुजोग। होहिं कुबस्तु सुबस्तु जग''''।'* अतः विषय और विषयी दोनोंका ही सङ्ग कदापि न करना।

सुग्रीवको ज्ञान उत्पन्न हुआ; पर उन्होंने ममताका त्याग न किया, अतः वे पुनः मलिन हो गये। कुसङ्ग दोष दूर करनेके लिये सत्सङ्ग चाहिये, पर *'पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता।'* अतः अगली अर्धालीमें पुण्यका दृष्टान्त देते हैं।

जानि सरद रितु खंजन आए। पाइ समय जिमि सुकृत सुहाए॥ ६॥
पंक न रेनु सोह असि धरनी। नीति निपुन नृप कै जसि करनी॥ ७॥

शब्दार्थ—**खंजन**—यह पक्षी कई रङ्ग और आकारका होता है। भारतमें यह हिमालयकी तराई, आसाम और बरमामें अधिकतासे होता है। इसका रङ्ग बीच-बीचमें कहीं सफेद कहीं काला होता है। यह प्रायः एक बालिश्त लंबा होता है और इसकी चोंच लाल और दुम हलकी काली झाईं लिये सफेद और बहुत सुन्दर होती है। यह प्रायः निर्जन स्थानोंमें और अकेला ही रहता है और जाड़ेके आरम्भमें पहाड़ोंसे नीचे उतर आता है। लोगोंका विश्वास है कि यह पाला नहीं जा सकता और जब इसके सिरपर चोटी निकलती है तब यह छिप जाता है किसीको दिखायी नहीं देता। यह पक्षी बहुत चञ्चल होता है, इसीलिये कविलोग नेत्रोंकी उपमा इससे देते हैं। **पंक**=कीचड़। रेनु (रेणु)=धूल।

अर्थ—शरदृऋतु जानकर खंजन पक्षी आये, जैसे समय पाकर सुन्दर सुकृत आते हैं॥ ६॥ न कीचड़ है न धूलि; इससे पृथ्वी ऐसी शोभित हो रही है जैसी नीति-निपुण राजाकी करनी शोभित होती है॥ ७॥

टिप्पणी—१ धर्मका चला जाना दो प्रकारसे कह आये हैं, एक तो क्रोधसे दूसरे कलिसे। यथा—*'करइ क्रोध जिमि धर्महि दूरी'* और *'कलिहि पाइ जिमि धर्म पराहीं।'* जो धर्म कलिको पाकर भाग गया था वह समय पाकर फिर आ गया; उसीका आना यहाँ कहते हैं और जो धर्म क्रोध करनेसे गया वह तो दूर गया; वह फिर नहीं आया।

टिप्पणी—२ यहाँ खंजनकी सुकृत *'सुहाए'* से उपमा दी। (क)—जो पक्षी बहुत देख पड़ते हैं उनकी उपमा नहीं दी और न उनकी दी जो देख नहीं पड़ते जैसे हंस इत्यादि; क्योंकि सुहाये सुकृत न तो बहुत ही हैं और न उनका बिल्कुल लोप ही हो गया है। और, खंजन हैं तो परंतु बहुत नहीं हैं इससे खंजनको ही कहा। पुनः, (ख) खंजनके आनेका समय निश्चित है, अन्य पक्षियोंके आनेका समय निश्चित नहीं। अतः खंजनकी उपमा दी। ये शरद्में आते हैं, वैसे ही सुकृत समय पाकर ही आते हैं।

करु०—समय आनेपर पुण्योंका फल दिखायी पड़ता है जैसे राजा रंतिदेवको ४८ दिन बीतनेपर भोजन मिला, वह भी अभ्यागतके आनेपर उन्होंने उसे उठा दिया और आप भूखे रह गये, तब तुरंत भगवान्ने प्रकट हो दर्शन दिये। (इसी तरह *'दसरथ सुकृत रामु धरें देही'* और *'जनक सुकृत मूरति बैदेही'* थे, पर दोनों समय आनेपर ही प्राप्त हुए, पहलेसे नहीं आये। श्रीभरद्वाजजी, श्रीसुतीक्ष्णजी और श्रीशबरीजी आदिने बहुत दिन तप किया, पर दर्शनरूपी सुकृतफल समयपर ही मिला। समय विधाता ही जानते हैं। यथा—*'लोचन गोचर सुकृत फल मनहु किए बिधि आनि।'* (२। १०६)

मा० म०—पूर्व कहा था कि *'देखियत चक्रबाक खग नाहीं। कलिहि पाइ जिमि धर्म पराहीं॥'* पर यहाँ सुकृतरूपी खंजनका आना तो कहा, पर धर्मरूपी चक्रवाकका आना नहीं कहते हैं। अतएव भाव यह है कि वर्षारूपी कलिसे दुःखित होकर चक्रवाकरूपी धर्म दूर भाग गया था, सो सुकृतरूपी खंजनके आनेपर वह भी आ मिला। सन्दर्भ यह कि जब सुकृत उदय होता है तभी धर्म धारण होता है, इससे खंजनको आया देख चक्रवाक भी सुसमय जानकर आ गया। [चक्रवाकका आगमन अभीतक नहीं हुआ। आगे दोहेमें उसे कहा है। यथा—*'चक्रबाक खग दुख निसि पेखी।'* (प० प० प्र०)]

टिप्पणी—३ (क) *'पंक न रेनु''''''* इति। भाव कि ग्रीष्ममें पृथ्वी धूलिसे अशोभित रही और वर्षामें कीचसे; अब दोनोंसे रहित होनेसे शोभित है। इसके उदाहरणमें 'नीतिनिपुण राजाकी करनी' को देखकर

जनाया कि राजाको न किसीपर गर्म होना चाहिये न किसीपर शीतल, जैसा नीतिमें लिखा है वैसा ही करना चाहिये। गर्म होना ग्रीष्मका धर्म है और शीतल होना वर्षाका। (ख) नृपकरनीको धरणीकी उपमा दी, क्योंकि जैसे धरणी सबको धारण करती है, वैसे ही नीति-निपुण राजाकी करनी सबको धारण करती है; यदि वह राजनीतिसे न चले तो सब प्रजा नष्ट हो जाय। ☞इन चौपाइयोंमें नीति है।

प० प० प्र०—यहाँ भी सुग्रीवविषयक विचार ही श्रीरामजीके मनमें प्रमुख है। शरद्‌ऋतु आनेपर भी उसने सीताशोध-कार्य प्रारम्भ न किया, न मिलने आया। अत: कहते हैं कि जब उसके सुन्दर सुकृत फलोन्मुख होंगे तभी उसको सत्सङ्ग-लाभ होगा। विचार करते हैं कि सुग्रीवको किस प्रकार कार्यमें तत्पर करना चाहिये। अत: अगली अर्धालीमें विचार कहते हैं कि यह कार्य नीतिनिपुणतासे करना होगा, नहीं तो सीताशोध-कार्य कीचड़में पड़ेगा। मेरे कार्यका विचार छोड़ देनेपर भी सुग्रीव ऐसा ही विषयमग्न रहेगा तो उसका विनाश ही होगा, अत: आगे कहते हैं—'*अबुध*'।

जल संकोच बिकल भइ मीना। अबुध कुटुंबी जिमि धन हीना॥८॥

शब्दार्थ—**संकोच**=खिंचाव, कमी। **कुटुम्बी**=परिवारवाला।

अर्थ—जलके कम हो जानेसे मछलियाँ उसी प्रकार व्याकुल हो गयीं जैसे धनरहित होनेसे अज्ञानी वा मूर्ख कुटुम्बी व्याकुल हो जाता है॥८॥

टिप्पणी—१ (क) प्रथम जलका धीरे-धीरे सूखना कहा—'*रस रस सूख सरित सर पानी।*' अब सूखकर जलका इतना संकोच हो गया कि मछलियाँ विकल हो गयीं। (ख) '*अबुध*' के भाव—(१) जो बुध नहीं हैं वे ही विकल होते हैं, यथा—'*सुख हरषहिं जड़ दुख बिलखाहीं। दोउ सम धीर धरहिं मन माहीं॥*' (२।१५०।७) पुन:, (२) अबुध अर्थात् जो गुणहीन हैं, धनकी प्राप्ति नहीं कर सकते और कुटुम्बवाले हैं वे विकल होते हैं। विद्या आदि कोई गुण होता तो धन अधिक कमाकर कुटुम्ब पाल सकते।

मीन और अबुध कुटुम्बीकी समता

१ मछलियाँ बहुत; जल कम रह गया।	कुटुम्बीके परिवारमें बहुत; धन थोड़ा रह गया।
२ जो जल है वह भी शनै:-शनै: सूखता जाता है।	जो धन है वह भी शनै:-शनै: समाप्त हो रहा है।
३ मेघ चले गये, अत: आगे जलकी आशा नहीं है।	रोजगार बंद है, अत: आगे धन मिलनेकी आशा नहीं।
४ आकाश निर्मल होनेसे धूप कड़ी है जिससे मीन विकल हैं।	मान्य एवं अभ्यागत आदिका सम्मान होना चाहिये सो नहीं बनता, यही शरद्‌का ताप है।
५ मछली जल छोड़कर कहीं जा नहीं सकती।	यह घर छोड़ कहीं जा नहीं सकता, क्योंकि अबुध है।
६ मछली जल बढ़ा नहीं सकती। (मा० म०)	यह बुद्धिहीन है; अत: धनोपार्जन कर नहीं सकता।
७ भानुरूपी महाजनने रहा-सहा जलरूपी धन खींच लिया।	अत: दु:खी हुए। उसपर भी अपनेहीमें प्राण-वियोग अर्थात् कलह होने लगा। (मा० म०)
८ अगस्त्यके उदयके पूर्व विपुल जल था।	पूर्व विपुल धन था। (प० प० प्र०)
९ वर्षा बंद हो गयी।	कोई कमानेवाला नहीं। (प० प० प्र०) आयका कोई और माध्यम नहीं।
१० अगस्त्यका उदय हुआ।	कुटुम्बी निर्बुद्धि निकला। (प० प० प्र०)

अर्थ—☞१ '*अबुध*' ही पाठ सब प्राचीन पोथियोंमें है। पर कुछ आधुनिक टीकाकारोंने 'बिबिध' पाठ रख लिया है। बहुत बड़ा परिवार होनेपर भी बुद्धिमान् वा गुणवान् मनुष्य घबड़ाते नहीं, उद्योग करके सबका पालन-पोषण करते हैं। दूसरे, 'कुटुम्बी' पदमें परिवारका बड़ा होना भी अभिप्रेत है। धनहीन हो जाना गृहस्थको दु:खदायी होता ही है; यथा—'*नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं।*' (७। १२१। १३)

टिप्पणी—२ समानार्थक श्लोक,—'**गाधवारिचरास्तापमविन्दञ्छरदर्कजम्। यथा दरिद्रः कृपणः कुटुम्ब्यविजितेन्द्रियः॥**' (भा० स्क० १० अ० २०। ३८) (अर्थात् थोड़े जलवाले मछली आदि जलचर शरद्‌ऋतुके सूर्यजनित तापको कैसे प्राप्त हुए जैसे इन्द्रियोंके वशवाला दरिद्र कृपण (दीन वा सूम) कुटुम्बी पुरुष संतापको प्राप्त होता है), '**नैवाविदन् क्षीयमाणं जलं गाधजलेचराः। यथाऽऽयुरन्वहं क्षय्यं नरा मूढाः कुटुम्बिनः॥**' (भा० १०। २०। ३७) (अर्थात् गड्ढोंमें भरे हुए जलचर यह नहीं जानते कि जल दिन-दिन सूखता जा रहा है, जैसे कुटुम्बमें भूले हुए मूढ़ यह नहीं जानते कि हमारी आयु क्षण-क्षण क्षयको प्राप्त होती जाती है।)

इन श्लोकोंसे मिलान करनेसे 'अबुध' में 'मूढ़ अविजितेन्द्रिय' का भाव भी आता है। '***जल संकोच बिकल***' में दोनों भाव आ जाते हैं। एक यह कि जलका धीरे-धीरे सूखना उसने न जाना, जब थोड़ा रह गया तब व्याकुल हुई कि अब तो शीघ्र ही प्राण जायेंगे। यथा '***नीच कीच बिच मगन जस मीनहि सलिल सँकोच।***' (२। २५२) दूसरे जलका संकोच हो जानेसे शरत्कालीन सूर्यकी प्रखर किरणोंसे बड़ी पीड़ा होने लगी। इसी तरह निर्बुद्धि कुटुम्बी कुटुम्बके पालन-पोषणमें धन लगाता गया, यह न सोचा कि आयु क्षण-क्षण बीती जा रही है, मैं कुछ धर्म कर लूँ, परमार्थ बना लूँ। अब जब धन न रह गया तब घरके भरण-पोषण-सम्बन्धी चिन्तारूपी ताप पीड़ित करते हैं और उधर आयु-समाप्तिका भय और सुकृत बिना कमाये मर जानेका संताप व्याकुल कर रहा है—'***अब पछताये का होत है जब चिड़ियाँ चुनि गईं खेत।***'

वि० पु० का '**अवापुस्तापमत्यर्थं शफर्यः पल्वलोदके। पुत्रक्षेत्रादिसक्तेन ममत्वेन यथा गृही॥**' (५। १०। २) (अर्थात् जैसे गृहस्थ पुत्र-क्षेत्रादिमें लगी हुई ममतासे संताप पाते हैं, उसी प्रकार मछलियाँ गड्ढोंके जलमें संताप पाने लगीं) यह श्लोक भी मिलान योग्य है। इसके अनुसार '***अबुध***' से 'पुत्रादिमें-आसक्त' अर्थ भी ले सकते हैं।

प० प० प्र०—भाव यह है कि सुग्रीव मूढ़ हो गया है। वह नहीं सोचता कि यह राज्य, धन, सम्पत्ति कितने दिन रहेगी। वह शीघ्र धनहीन हो जायगा और वह तथा उसकी प्रजा-परिवार दीन-दुःखी हो जायेंगे। श्रीरामजी विचार करते हैं कि क्या सुग्रीव अबुध है? नहीं-नहीं। वह तो हरिजन है; सब भरोसा छोड़कर प्रारब्धका भोग करता है। उसका हृदयाकाश मोहरूपी छत्र-पटलसे छा गया है। जब सद्‌गुरुरूपी पवन अथवा '***सनमुख मरुत अनुग्रह मेरो***' उस मोह-पटलको छिन्न-भिन्न कर देगा, तब वह पुनः निर्मल हो जायगा। और फिर मेरी कृपासे उसको भक्तिका लाभ होगा। सुग्रीवका दोष ही क्या? उसने तो यही कृपा चाही थी कि '***सब तजि भजन करौं दिन राती***', मैंने ही तो अपनी प्रतिज्ञा पूरी करनेके लिये वालीका वध किया और राज्य करनेको कहा। अतः आगे कहते हैं—

बिनु घन निर्मल सोह अकासा। हरिजन इव परिहरि सब आसा॥९॥
कहुँ कहुँ बृष्टि सारदी थोरी। कोउ एक पाव भगति जिमि मोरी॥१०॥

अर्थ—बिना बादलके आकाश निर्मल होकर कैसे सोह रहा है। जैसे सब आशाओंको छोड़कर भगवद्भक्त शोभित होते हैं॥९॥ शरद्‌ऋतुकी वर्षा कहीं-कहीं और थोड़ी होती है जैसे कोई एक मेरी भक्ति पाते हैं॥१०॥

नोट—☞ मिलान कीजिये—१ '**खमशोभत निर्मेघं शरद्विमलतारकम्। सत्त्वयुक्तं यथा चित्तं शब्दब्रह्मार्थदर्शनम्।**' (भा० १०। २०। ४३) (अर्थात् शरद्‌के निर्मल तारोंवाला मेघरहित आकाश शोभित हो रहा है जैसे सत्त्वगुणप्रधान शब्दब्रह्मार्थदर्शी चित्त शोभित होता है। चौपाईमें '***हरिजन***' है, उसकी जगह श्लोकमें '**सत्त्वयुक्त शब्दब्रह्मार्थदर्शीचित्त**' है, भाव एक ही है, क्योंकि भक्तिके लिये सत्त्वगुणयुक्त होना जरूरी है और बिना भक्तिके चित्त शब्दब्रह्मार्थदर्शी नहीं हो सकता। पुनश्च—'**गिरयो मुमुचुस्तोयं क्वचिन्न मुमुचुः शिवम्। यथा ज्ञानामृतं काले ज्ञानिनो ददते न वा॥**' (भा० १०। २०। ३६) (अर्थात् पर्वत कहीं-कहीं जल बहाते हैं, कहीं नहीं, जैसे ज्ञानीलोग मोक्षसाधक तत्त्वज्ञान किसी एक कालमें किसी एक अधिकारीको

देते हैं, सबको नहीं।) श्लोक ३६ के '**ज्ञानिनो ददते न वा**' की अपेक्षा '*कोउ एक पाव*' शब्द अधिक व्यापक हैं। इसमें श्लोकके 'ज्ञानी' के अतिरिक्त संत, गुरु एवं स्वयं भगवान् आदि भी आ जाते हैं।

नोट-२—उत्तरकाण्डमें श्रीपार्वतीजीके वचनोंसे इसका भाव स्पष्ट हो जाता है—'*नर सहस्त्र महँ सुनहु पुरारी। कोउ एक होइ धर्मब्रतधारी॥ धरमसील कोटिक महँ कोई। बिषय बिमुख बिरागरत होई॥ कोटि बिरक्त मध्य श्रुति कहई। सम्यक ज्ञान सकृत कोउ लहई॥ ज्ञानवंत कोटिक महँ कोऊ। जीवनमुक्त सकृत जग सोऊ॥ तिन्ह सहस्त्र महँ सब सुखखानी। दुर्लभ ब्रह्मलीन बिज्ञानी॥ धरमसील बिरक्त अरु ज्ञानी। जीवनमुक्त ब्रह्मपर प्रानी॥ सब ते सो दुर्लभ सुरराया। राम भगतिरत गत मद माया॥*' (७।५४)

टिप्पणी—१ हरिभक्तकी शोभा आशाके त्यागमें ही है, आशा रहनेमें उनकी शोभा नहीं है। यथा—'*मोर दास कहाइ नर आसा। करइ त कहहु कहा बिस्वासा॥*' (७।४६।३) '*हरिजन*' हैं, अत: हरिकी ही आशा रखते हैं और सबकी आशा छोड़ देते हैं। यहाँ घन आशा है, हरिजन आकाश हैं। घनसे आकाश मलिन, आशासे हरिजन मलिन।—['**आशा परं दु:खम्।**' आशा शोककी जड़ है। यथा—'*तुलसी अदभुत देवता आसादेवी नाम। सेए सोक समरपई बिमुख भए अभिराम॥*' (दो० २५८)]—यहाँ वैराग्य है।

टिप्पणी-२—'*कहुँ कहुँ बृष्टि सारदी थोरी*·····' इति। (क) कहीं-कहीं और वह भी थोड़ी ही होती है। इसके उदाहरणमें कहते हैं कि कोई एक मेरी भक्ति पाते हैं। इससे यह भी जना दिया कि कोई एक पाते हैं और वह भी थोड़ी ही पूर्ण नहीं। भक्ति पानेवालोंके नाम आगे गिनाते हैं, यथा—'*जिमि हरिभगति पाइ श्रम तजहिं आश्रमी चारि।*' अर्थात् गृहस्थ, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी, इनमेंसे कोई एक पाते हैं, सब नहीं पाते। एक आश्रममें हजारों मनुष्य होते हैं सब भक्ति नहीं पाते, कोई एक पाते हैं। (ख) '*कोउ एक*' कहकर जनाया कि ज्ञानसे भक्ति दुर्लभ है। ज्ञानकी प्राप्ति अनेकको कही है, यथा—'*नवपल्लव भए बिटप अनेका। साधक मन जस मिले बिबेका॥*' और भक्तिकी प्राप्ति 'कोउ' 'एक' को। (ग) शारदीवृष्टि दुर्लभ, वैसे ही भक्ति दुर्लभ, यथा—'*सब ते सो दुर्लभ सुरराया। रामभगतिरत गत मद माया॥*' (घ) शारदीवृष्टिसे मुक्ता आदि अनेक पदार्थ उत्पन्न होते हैं, वैसे ही भक्तिसे मुक्ति आदि सब पदार्थ सिद्ध होते हैं। ☞यहाँ भक्ति है।

नोट—३ महारामायणमें '*कोउ इक पाव भगति*······' के भावके श्लोक ये हैं—'**ये कल्पकोटि सततं जपहोमयोगैर्ध्यानैः समाधिभिरहोरतब्रह्मज्ञाने। ते देवि धन्या मनुजा हृदि बाह्यशुद्धा भक्तिस्तदा भवति तेषु च रामपादौ॥**' (सर्ग ४९।४) एवं '**मुग्धे शृणुष्व मनुजोऽपि सहस्त्रमध्ये धर्मवृती भवति सर्वसमानशीलः। तेष्वेव कोटिषु भवेद्विषये विरक्तः सद्ज्ञानको भवति कोटिविरक्तमध्ये॥**' (४९।३), '**ज्ञानिषु कोटिषु नृजीवनकोऽपि मुक्तः कश्चित्सहस्त्रनरजीवनमुक्तमध्ये। विज्ञानरूपविमलोऽप्यथ ब्रह्मलीनस्तेष्वेव कोटिषु सकृत् खलु रामभक्तः॥**' (२) अर्थ उपर्युक्त उद्धृत चौपाइयोंसे मिलता है। अत: पुन: नहीं लिखा।

प० प० प्र०—(क) भाव यह है कि शारदीवृष्टिके समान अब सुग्रीवपर कृपा करनी चाहिये। (ख)☞अबतक श्रीरामजी 'हरि जन' '*जिव हरि पाई*' इस तरह 'हरि' शब्दका ही प्रयोग करते आये, किंतु जब भक्तिकी बात कहनेका अवसर आया तब माधुर्यभाव भूल गये, ऐश्वर्यभाव जाग्रत् हो गया और उनके मुखसे '*भगति जिमि मोरी*' ये वचन निकल पड़े। अरण्यकाण्ड मा० पी० पृ० १३६ देखिये। यहाँ यह ऐश्वर्यभाव क्षणमात्र ही रहा, श्रीरामगीता और पुरजनगीतामें बहुत देरतक रहा है। (ग) ऐश्वर्यभावमें यहाँ जो सुग्रीवपर कृपा करनेका सङ्कल्प किया है वह दोहा १९ (१) में कार्य करने लगेगा।

दो०—चले हरषि तजि नगर नृप तापस बनिक भिखारि।
जिमि हरिभगति पाइ श्रम तजहिं आश्रमी चारि॥१६॥

अर्थ—राजा (विजयके लिये), तपस्वी (तपके लिये), व्यापारी बनिये (वाणिज्यके लिये) और भिखारी (भिक्षाटनके लिये) प्रसन्न होकर नगर छोड़कर चले। जैसे हरिभक्ति पाकर चारों आश्रमवाले (गृहस्थ, ब्रह्मचारी,